

# चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 3 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2005

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

डॉ. लोकेशचन्द्र

निर्मल वर्मा

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

## विषय-क्रम

### वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये

### एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये

### विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

### आस्था भारती

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा

विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

अणु डाक : asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं।  
सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	4
1. आदिवासी विकास के नए आयाम <i>राम बहादुर राय</i>	7
2. अज्ञेय के लिए व्यक्ति और समाज <i>प्रभाकर श्रोत्रिय</i>	14
3. देश-द्रोह की फेलोशिप <i>शंकर शरण</i>	22
4. डॉ. देवराज के आलोचना-दर्शन का सांस्कृतिक आधार <i>डॉ. कुमार विमल</i>	40
5. हिन्दी सर्जना एवं आलोचना : बिखराव के सन्दर्भ <i>डॉ. कृष्णचन्द्र गोस्वामी</i>	50
6. आधुनिक सन्दर्भ में 'रामचरित मानस' <i>डॉ. रमानाथ त्रिपाठी*</i>	55
7. तत्त्व-कविता-पितामह श्री वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी <i>डॉ. विजयराघव रेड्डी*</i>	62
8. उत्तर-पूर्व की भाषाएँ <i>प्रोफेसर राजमल बोरा</i>	67
9. नाग ध्वनितन्त्र <i>डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह</i>	93
10. पाठकीय प्रतिक्रिया	105

### समाचार माध्यम या गंदगी के पनाले ?

बस देश के समाचार माध्यमों पर अश्लीलता और हिंसा फैलाने के आरोप लगातार लगते रहे हैं। यदि इस आरोप से कोई समाचार पत्र मुक्त पाया जाता है, तो यह निश्चय ही सुखद आश्चर्य का विषय होगा। स्थिति दिन दिन बिगड़ती जा रही है। पाठक संख्या बढ़ाने की होड़ में समाचार-पत्र आत्म-नियंत्रण खो चुके हैं। इसके लिए वे अश्लील सामग्री का लगातार धड़ल्ले से अधिकाधिक प्रकाशन कर रहे हैं। ऐसा करते हुए उन्हें न तो समाज की चिन्ता होती है और न देश की। देश के दो समाचार पत्रों *टाइम्स आफ इण्डिया* एवं *हिन्दुस्तान टाइम्स* - में तो गंदी सामग्री छापने की होड़ सी लगी हुई है। इसका लाभ भी उन्हें मिला है। अश्लील सामग्री छापना शुरू करने के बाद से उनकी पाठक संख्या लगातार बढ़ी है।

पद्मश्री प्रकाश सिंह ने - जो सीमा सुरक्षा बल, तथा उत्तर प्रदेश एवं असम पुलिस के महानिदेशक रहे हैं - इन पत्रों में छपने वाले अश्लील सामग्रियों/फोटो के प्रकाशन एवं मालिश के नाम पर चलने वाले वेश्यावृत्ति के अड्डों के विज्ञापनों के प्रकाशन के विरुद्ध भारतीय प्रेस परिषद् से शिकायत की थी। उनकी शिकायत पर विचार करते हुए प्रेस परिषद् ने *टाइम्स आफ इण्डिया* द्वारा प्रकाशित अश्लील सामग्रियों, फोटो आदि के प्रकाशन पर परिवादी की आपत्ति को सही मानते हुए भविष्य में इस विषय में अधिक सावधान एवं नियंत्रित रहकर प्रकाशन करने की उम्मीद जतायी थी। प्रेस परिषद् की जाँच समिति ने आधुनिकता एवं जीवन शैली में होने वाले परिवर्तनों के नाम पर ऐसे प्रकाशनों को सही न मानते हुए देश में होने वाले सामाजिक मूल्यों के क्षरण के विषय में परिवादी की चिन्ता से अपनी सहमति जतायी। *हिन्दुस्तान टाइम्स* के द्वारा प्रकाशित विज्ञापनों पर बम्बई उच्च न्यायालय के 8.12.2004 के फैसले की याद दिलाते हुए प्रेस द्वारा आत्म-नियंत्रित होकर समाज के प्रति उत्तरदायित्व न निभा पाने पर चिन्ता एवं खेद प्रकट किया गया था। उन्हें अपने विज्ञापनों में, भविष्य में अमार्यादित भाषा के प्रयोग न करने की सलाह देते हुए इसके लिए लिखित आश्वासन देने को भी कहा गया था। आखिर इन मालिश के अड्डों के विज्ञापनों में स्त्री-पुरुषों के फोटो के साथ उदार/शिक्षित/सुन्दर/विदेशी आदि संदर्भहीन शब्दों के प्रयोग का अर्थ समझना कठिन नहीं।

हिन्दी समाचार पत्रों की स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं है। मेरे सामने दैनिक जागरण के भागलपुर से प्रकाशित संस्करण के 2 सितम्बर का अंक पड़ा है। उसके एक पृष्ठ *समकालीन मुद्दों व जन सरोकार की कसौटी* के कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं:

“वह बूढ़ी औरत उसे चुप करा रही है चुप। आवाज नहीं निकालते। किसी से मत कहना। घर की इज्जत का सवाल है। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था... ऐसा ही होता था... ऐसा तो होता ही रहता है...” ‘छिन्नमस्ता’ की प्रिया अकेली नहीं है जो भाई की हवस का शिकार होती है या सोना चौधरी के ‘पायदान’ की आंचल जो गांव में बैठक के कमरे में रोज रात को अपने भाई और उसके दोस्त के हाथों कुचली जाती है। किसके पास रोते हुए जाये वह बच्ची... या इमराना... या रानी...या कोई और.. .। पिता द्वारा अपनी ही बेटियों के भक्षण के समाचार भी मिल रहे हैं।”

“विवाह इकलौती ऐसी संस्था रह गयी है जिसे कई मामलों में बंधक व्यवस्था कहा जा सकता है। हर घर की गृहिणी के अलावा अब कोई गुलाम नहीं बचा है। इसी विवाह संस्था की मर्यादाओं की आड़ में मर्द औरत देह पर अपनी जीत की इबारत लिखता आया और उसकी मर्जी के खिलाफ सर उठाने की कोशिश करने वाली कोई औरत पीटी या सुधारी जाती रही है।”

“बहुत सभ्य और शालीन घरों में भी खाना तो बनता ही है। बनाती भी स्त्रियां ही हैं। लेकिन पुरुष किसी और बात का गुस्सा नमक पर उतार देता है। बाहर से हारा हुआ, भीतर आकर जीत लिखने की कोशिश करता है। थाली फेंक देता है।”

“आदिवासियों में स्त्री उत्पीड़न के और भी कारगर उपाय हैं जो अन्धविश्वासों और जड़ मान्यताओं की टोटके वाली टकसाल में ढलते रहे हैं। यदि विधवा की जमीन हड़पनी हो या घर समाज में किसी महिला की कमजोरी का लाभ उठाना हो तो उसे डायन प्रचारित कर दिया जाना आम बात है। इस समाज में औरतोंके लिए कई तरह की मनाहियां हैं जिन्हें रीति-रिवाज और आदिम विश्वास संहिताबद्ध करते रहते हैं। जैसे महिलाएं हल नहीं चला सकतीं। छप्पर नहीं छा सकतीं।”

“मां-बाप सम्पत्ति के नाम पर और कुछ दें न दें, ब्याही हुई लड़की के हिस्से एक कमरा तो जरूर कर दें जहां वह कभी लौट सकती हो और सोच सकती हो नयी तरह से, आत्मनिर्भर जिन्दगी शुरू करने के बारे में। इतना ही हो जाये अगर तो उसे यह ताना न सुनना पड़े कि ‘रहेगी नहीं तो जायेगी कहाँ’।”

उल्लिखित “कसौटी” के चार पृष्ठों पर जितनी गंदगी बिखेरी गयी है, उसे समेटना न तो संभव है और न आवश्यक। वस्तुतः ऊपर उद्धृत कुछ वाक्य पढ़कर ही उबकाई आती है। बहुत संभव है कि ये बातें कुछ लेखिकाओं/सम्पादकों के अपने अनुभव पर आधारित हों। ऐसी अवस्था में उनका साधारणीकरण तो कदापि नहीं किया जाना चाहिए। हमारे समाज का इतना पतन तो कभी नहीं होगा कि वह अगम्यगमन/कौटुम्बिक व्यभिचार को अपने आचरण का अंग बनाए। हमारा समाज

किसी प्रकार के व्यभिचार/शील-हरण की बात सुनकर व्यथित हो जाता है; उसे बर्दाश्त नहीं करता। इसी प्रकार पत्नी-उत्पीड़कों को हमारा समाज बहुत नीची नजर से देखता है। और फिर दैनिक जागरण के सम्पादकों को इस बात की खोज करानी चाहिए कि अपनी कमाई से अपने पत्नियों के नाम चल-अचल सम्पत्ति खरीदनेवाले पुरुषों का प्रतिशत क्या है? और फिर यदि विवाह इकलौती ऐसी संस्था रह गयी होती, जिसे कई मामलों में बंधक व्यवस्था कहा जा सकता है, तो अधिकांश पढ़ी लिखी महिलाएं कभी भी विवाह नहीं करतीं।

भारत एक अरब से अधिक जनसंख्या वाला देश है। फिर ऐसा कैसे संभव है कि यहाँ मनोरोगी या अपराधी प्रवृत्ति के लोग बिल्कुल न हों। लेकिन ऐसे लोग न तो हमारे आदर्श हो सकते हैं और न प्रतिनिधि। साहित्यकारों/समाचार माध्यमों को उन्हें आदर्शापित नहीं करना चाहिए। इससे वे सबल होंगे; स्त्रियों के प्रति अत्याचार की घटनाएँ बढेंगी। उनके लिए कानून बने हैं। यदि कानून में कमी है तो उसे दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए।

इस देश में एक विचित्र तरह की अपराधी विचारधारा का प्राबल्य बढ़ा है। उससे ग्रस्त व्यक्ति को हर पति अपनी पत्नि का, हर बाप अपनी बेटी का तथा हर भाई अपनी बहन का शत्रु दिखायी देता है। इसमें सत्य नहीं है। इस अपराधी विचारधारा का प्रतिकार एवं इससे ग्रस्त मनोरोगी व्यक्तियों का निदान आवश्यक है। इस विचार धारा से ग्रस्त व्यक्ति को हमारी परम्परा में जिसमें आदिवासी परम्परा भी शामिल है दोष ही दोष दिखायी देता है। उपनिवेशवादी सोच को मिटाए बिना इसका प्रतिकार संभव नहीं।

समाचार-पत्रों को हम समाचार एवं विचार के लिए पढ़ते हैं। वे गन्दगी के पनाले नहीं हों। यह समझ समाचार-पत्रों के संचालकों/सम्पादकों को तो होनी ही चाहिए।

**ब्रज बिहारी कुमार**

## आदिवासी विकास के नए आयाम

**रामबहादुर राय\***

**रा**जीव गांधी मंत्रिमंडल के एक सदस्य और बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री अब्दुल गफूर उन दिनों शहरी विकास मंत्री थे। तुगलक रोड पर उनके निवास का यह प्रसंग है। एक महिला उनसे मिलकर जा चुकी है। गफूर साहब ने मुझसे पूछा कि आप क्या इन्हें जानते हैं? मेरे ना कहने पर उन्होंने बताया कि वे सुमति उरांव हैं। कार्तिक उरांव की पत्नी और लोकसभा सदस्य। कार्तिक उरांव को कौन नहीं जानता? आदिवासी हितों के उस योद्धा को उन अनेक बातों का श्रेय है जिसे कोई कांग्रेसी कहने की हिम्मत भी नहीं करता। सुमति उरांव चाहती थीं और इसीलिए वे अब्दुल गफूर से अनुरोध करने आई थीं कि उनके चुनाव क्षेत्र का वे कार्यक्रम बनाएँ। लगे हाथ मैंने उनसे बिशुनपुर जाने के लिए कहा। थोड़े दिनों बाद उन्होंने अपने सूत्रों से यह मालूम करने की कोशिश की कि जहाँ उन्हें जाना है वह संस्था किस तरह का काम करती है।

यह नहीं मालूम कि उन्होंने कैसे और किन लोगों के जरिए पता करवाया, लेकिन उनको जो भी जानकारी मिली वह भ्रम पैदा करनेवाली ज्यादा थी। जैसे, उन्हें किसी ने बताया कि बिशुनपुर में जो टोली कुछ ही साल पहले काम करने के लिए आई वे अमेरिकी धन पर काम करते हैं। मुझे यह सुनकर तब भी आश्चर्य हुआ था और अब्दुल गफूर को मैंने कहा था कि वहाँ जाकर आप खुद देखें। वे गए और विकास भारती के काम-काज देखकर सराहना भाव से लौटे। करीब 20 साल बाद जब मैं 1984 के विकास भारती का न्यूज लेटर देखता हूँ तब उस बात का रहस्य समझ में आता है कि क्यों तत्कालीन शहरी विकास मंत्री ने यह कहा था कि वे नौजवान अमेरिकी पैसे से काम कर रहे हैं। महेश शर्मा, अशोक भगत, रजनीश अरोड़ा और राकेश पोपली की ओर से जारी न्यूजलेटर में उन संस्थाओं का जिक्र है जिनसे विकास भारती को मदद मिलती थी। उसमें ही एक वाक्य है कि अमेरिका में रहनेवाले भारतीयों से हम मदद प्राप्त करते हैं। सम्भवतः यही सूचना थोड़ी चटपटी होकर अब्दुल गफूर के पास पहुँची थी। लेकिन वहाँ के काम-काज को देखने के बाद उनकी

\*वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक

धारणा बदल गई थी।

यह पुरानी बात है। जिस तरह भारत सरकार के एक मंत्री को सही सूचना नहीं थी वैसे ही उस इलाके में बहुत दिनों तक आदिवासियों में भी बड़ा भ्रम फैलाया गया था। यह कि विकास भारती की टोली में एक व्यक्ति बहुत खूँखार है। आदिवासी इलाका हो और चारों तरफ जंगल हो तो खूँखार की जो छवि मन पर उभरती है उसकी कल्पना की जा सकती है। एक दिन चिथरू गुरु और अशोक भगत की मुलाकात ने इसे नया मोड़ दिया। संवाद शुरू हुआ। उन दिनों चिथरू गुरु जंगल की कटाई रोकने के लिए लोगों को एकजुट कर रहे थे। उनके साथ सैकड़ों आदिवासी चल रहे थे। उस इलाके के इस बड़े नेता से अशोक भगत की भेंट के बाद आदिवासियों की अपनी सरकार बनाने का आन्दोलन तेज हुआ। उस समय अनेक प्रयोग हुए। गाँववालों ने दिल्ली के तर्ज पर अपना काम-काज चलाने के लिए किसी को राष्ट्रपति किसी को प्रधानमंत्री आदि बनाया। संसद भी बनी। लोक अदालतों का प्रयोग शुरू हुआ। ये संस्थाएँ वहाँ के जनजीवन में नए रक्त संचार के रूप में आईं। मुझे पुरानी घटनाएँ बताते हुए अनेक आदिवासी नेता उस दौर में पहुँच जाते थे जब यह सब कुछ शुरू ही हुआ था। उनके चेहरे पर आत्मविश्वास का भाव होता है और नव-सृजन के सामर्थ्य का आजमाया हुआ अहसास।

आप जानना चाहेंगे कि यह प्रयोग भूमि कहाँ है? झारखण्ड में दर्जनों स्थान किसी-न-किसी पहचान के लिए मशहूर हैं। उनमें एक नया नाम जुड़ा है बिशुनपुर। नेतरहाट विद्यालय देश-दुनिया में दो बातों के लिए मशहूर है विद्यालय और प्राकृतिक रमणीयता। उस नेतरहाट के रास्ते पर आठवें दशक में एक ऊँघता हुआ बाजार था। बाजार के दिन चहल-पहल होती थी, नहीं तो नेतरहाट के यात्री ही उसके सन्नाटे को तोड़ते थे। आठवें दशक के प्रारम्भ में राँची में विज्ञान कांग्रेस का अवसर था। उससे समय निकालकर एक टोली इधर आई। कहते हैं कि डॉ. ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने इधर का रास्ता दिखाया था। उन दिनों महेश शर्मा आदिवासी इलाकों में एक प्रयोजन से आ-जा रहे थे। वे अपनी कर्मभूमि खोज रहे थे। विज्ञान कांग्रेस के अवसर पर एक सम्मेलन डॉ. विद्यार्थी ने बिशुनपुर में रखवाया। मुझे वहाँ बताया गया कि सम्मेलन के बाद जो व्यक्ति वहीं का होकर रह गया वे अशोक भगत हैं। यह सुनते ही मुझे कुमारी कटा की याद आई। असम और भूटान के मुहाने पर आंचलिक ग्रामदान संघ का काम-काज वहाँ के जनजीवन में फैला हुआ है। उसे फैलाया रवीन्द्र भाई ने। इसी नाम से उन्हें लोग-बाग जानते हैं। उनका पूरा नाम है रवीन्द्रनाथ उपाध्याय। भारत पर चीनी हमले के वक्त जब विनोबा ने अहिंसक सैनिकों की कल्पना रखी उस समय जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में एक टोली बोमडिला के रास्ते चीन सीमा पर जाना चाहती थी। था वह प्रतीकात्मक प्रयास, लेकिन रवीन्द्र भाई ने उसे अपने जीवन का व्रत बना लिया। और लोग लौट गए वे वहीं रुके और कुमारीकटा के बोडो इलाके को

अपनी रचनात्मक गतिविधियों का केन्द्र बनाया।

बिशुनपुर एक मुहाने पर है। गुमला जिले का यह हिस्सा उन जनजातियों से भरा हुआ है जिन्हें सरकारी कामकाज की भाषा में अल्पसंख्यक गिना जाता है। क्या वे कम आबादी के कारण अल्पसंख्यक हैं या उनकी अलग जीवनशैली है? ये दोनों बातें हैं। बिरहोर, बिरजिया, कोरवा और असुर नामक अल्पसंख्यक जनजातियों ने बिशुनपुर के सतरंगेपन को बढ़ाया है। बिशुनपुर से नेतरहाट की तरफ जाते हुए जो पहली नदी पड़ती है वह कोयल है। यह बारहमासी नदी है। सोन से जुड़ी हुई है। पहाड़ी घाटियों के बीच इस नदी को निहारते हुए गुजरने पर आप थोड़ी देर के लिए रुकने को मजबूर हो जाएँगे। नदी के किनारे और बीचों-बीच टूटे पहाड़ों के द्वीप हैं जो यात्री को रुकने का निमंत्रण देते हैं। इन्हीं में से किसी एक पहाड़ पर इस बात का फैसला हुआ था कि वही यह इलाका है जहाँ महेश शर्मा की टोली को अपनी जिन्दगी दाँव पर लगा देनी है।

जिन चार के नाम का ऊपर जिक्र आया है उन लोगों ने मिलकर विकास भारती बनाया। जिसका बाकायदे नामकरण और रजिस्ट्रेशन 1983 में हुआ। 14 जनवरी का दिन था। समझा जा सकता है कि उस दिन का चयन विशेष रूप से किया गया। वह टोली आदर्शवाद से प्रेरित थी। उनका कोई ऐसा नेता नहीं था जो ठक्कर बापा सरीखे हों। इस टोली के हर सदस्य अपनी अन्तःप्रेरणा से जुड़े थे। वे चाहते तो कहीं भी अपना भाग्य आजमा और चमका सकते थे। इनका कोई नेता नहीं था पर नेता तो चाहिए इसलिए विकास भारती ने अपनी प्रेरणा के केन्द्र में विवेकानन्द को रखा। उसकी सालाना रिपोर्ट में स्वामी विवेकानन्द का वह उद्बोधन है जो उस बीहड़ इलाके में काम करनेवाले को बलशाली बना देता है। “दूसरों के लिए रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे-धीरे हृदय में सिंह का सा बल आ जाता है।”

इस प्रेरणा से शुरुआती दौर में 24 गाँवों को कार्यक्षेत्र के रूप में चुना गया जो बिशुनपुर बाजार से जुड़े हुए हैं। लक्ष्य रखा गया समग्र विकास। ऐसा विकास आदिवासी जीवन के हर पहलुओं को समेटते हुए ही हो सकता है। इस मायने में विकास भारती एक अभिनव प्रयोग है। जिसमें आदिवासियों की सेवा के लम्बे अनुभवों में नए आयाम जोड़ने का योजनापूर्वक प्रयास दिखता है। शुरुआती टोली में तीन नाम आई. आई. टी. से निकले हुए लोगों के हैं। उसकी छाप विकास भारती की परिकल्पना में देखी जा सकती है। आदिवासी इलाकों में महात्मा गांधी की प्रेरणा से सेवा के अनेक प्रयोग हुए हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से निकली संस्था कल्याण आश्रम एक नए क्षेत्र में जुटी हुई पाई जाती है। इन उदाहरणों से भिन्न इस टोली ने विकास के लिए उपयुक्त तकनीक को आधार बनाने की सोचा। कुछ प्रयोग भी किए। यही इसकी विशेषता रही है। इस प्रयोग के दायरे में कृषि, ग्रामीण उद्योग, ऊर्जा,

शिक्षा, सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को शामिल किया गया। जो कम सुनने में आता है वह भी इनके काम का हिस्सा बना, विज्ञान को आम आदमी में लोकप्रिय बनाना। क्या ये सिर्फ किताबी घोषणाएँ हैं जो अक्सर डोनर एजेंसियों के लिए बनाई जाती हैं?

विकास भारती पर यह लागू नहीं होता। इस संस्था ने शुरू से ही एक कौतूहल पैदा किया जो आश्चर्य में बदल गया है। इसकी उपलब्धियाँ अपने-आप में उदाहरण बन गई हैं। बिशुनपुर का नाम जहाँ कोई नहीं जानता था अब विकास भारती के काम-काज के कारण मशहूर हो गया है। झारखण्ड के पूर्व राज्यपाल प्रभात कुमार हैबिटाट सेंटर में एक छोटे समूह के सामने विकास भारती के कामों की जैसी सराहना कर रहे थे वह सुनने में अविश्वसनीय इसलिए लगा कि बतानेवाले पर मेरा उतना भरोसा नहीं था। वहाँ जाकर जैसा मैंने देखा तो मुझे लगा कि प्रभात कुमार सही बयान कर रहे थे, अतिरंजना नहीं थी। एक कसौटी संस्था के काम को मापने की यह हो सकती है कि उसके शुरुआती दिनों में जो जुड़े वे आदिवासी क्या अपने फैसले पर पछतावा तो नहीं कर रहे हैं? दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि विकास भारती से जुड़ने पर उनमें सार्थकता का भाव है या नहीं। जिन आधे दर्जन आदिवासी नेताओं से मेरी बात हुई वे विकास भारती के असली प्रवक्ता लगे। उन्हें इसके उतार-चढ़ाव का न केवल पूरा पता है वे यह भी जानते हैं कि उनकी जिन्दगी बदल गई है, बेहतर हो गई है। उनमें बल आ गया है जो किसी नैतिक काम से ही प्राप्त होता है। वे बड़ी-से-बड़ी समस्या को बिना घबड़ाए या अपने धैर्य को दाँव पर लगाए बिना हल करने में समर्थ दिखते हैं। बिशुनपुर के आस-पास ऐसे तमाम उदाहरण बिखरे पड़े हैं। उन्हें देखने के लिए आपको पहाड़ चढ़ने पड़ेंगे जहाँ जीप बामुशिकल पहुँच पाएगी।

ऐसे ही एक स्थान को हम देखने से वंचित रह गए क्योंकि रास्ता कटा हुआ था और कोशिश करने के बावजूद जीप के लिए राह निकल नहीं पाई। एक ऊँचे पहाड़ पर लोगों की मदद से जो बाँध बनाया गया उसने उस इलाके की जिन्दगी बदल दी है। सिंचाई की सुविधा से वह आदिवासी इलाका खुशहाल हो गया है। सरकारी महकमा उस बाँध को बनाने में असमर्थ था। उसने अपने हाथ खड़े कर दिए थे। विकास भारती के एक निश्चयव्रती कार्यकर्ता ने वहाँ के लोगों को तैयार किया और श्रमदान के बल पर उसे मामूली तकनीकी मदद से बनाना सम्भव हो सका। वैसे ही विकास भारती के मुख्यालय से जो हरा-भरा पहाड़ दिखता है उससे एक चेकडैम के लिए नहर निकाला जा रहा है। पाँच साल से उस पर काम रोज चलता है। चम्पा भगत इसमें लगे हैं। वे एक आदिवासी समूह के जाने-माने नेता हैं। हर दिन श्रमदान होता है। आस-पास के उन बस्तियों से लोग आते हैं जिन्हें भविष्य में उस नहर से सिंचाई की सुविधा मिलनेवाली है। तीन किलोमीटर लम्बी नहर करीब-करीब निकल आई है।

जिसे राज्य सरकार के इंजिनियरों ने नामुमकिन माना था। उससे पचीस हजार एकड़ जमीन सोना उगलने लगेगी। श्रमदान में पूरी मदद विकास भारती की है। इस तरह यह छठा बाँध होगा जो जन सहयोग से विकास भारती ने बनवाया है। सिंचाई और पीने के पानी के लिए जहाँ तक कुओं का सवाल है वे इस संस्था के प्रयास से सैकड़ों में बने हैं। सही संख्या 601 है। जगह-जगह ऐसी समितियाँ काम कर रही हैं जो सिंचाई और जल प्रबंधन की पहरुआ हैं।

इन बाईस सालों में बिशुनपुर के आदिवासी जीवन में प्रकृति जैसी सहजता लौट आई है। वे शासन और सामंती शोषण से मुक्त हो गए हैं। अपने आप फैसले कर सकते हैं। राजनीतिक दलों की दाल उनमें पहले से कम गलती है। इसके लिए जनजागरण की लम्बी कवायद से पूरे इलाके को गुजरना पड़ा है। आदिवासियों के साथ अशोक भगत की पदयात्राएँ इसका जरिया रही हैं। इन पदयात्राओं से खौफ खानेवाले समूह या नेता समझते थे कि एक धौंस काफी है और उससे लोग पुरानी स्थिति में लौट आएँगे। वैसा हुआ नहीं। कई यात्राओं में मुठभेड़ की नौबत आई। लातेहार की पदयात्रा में पीडब्ल्यूजी (पीपुल्स वार ग्रुप) ने मार डालने की धमकी दी। उसका कोई असर होते नहीं देख वे चुप हो गए। यह समझ से परे है कि इस कथित क्रान्तिकारी समूह को विकास भारती के जनजागरण से क्यों शिकायत है?

जो संस्था एक किराए के मकान से शुरू हुई वह निरंतर बढ़ रही है। उसका कार्यक्षेत्र जो चौबीस गाँवों में था अब झारखण्ड के सात जिलों के दो हजार गाँवों में फैला है। गैर सरकारी क्षेत्र में यह सबसे बड़ा शैक्षिक प्रयास दिखता है। आँकड़ों की भाषा में कहें तो करीब साढ़े तीन सौ एकल विद्यालय यह चला रहा है जिससे 11 हजार छात्रों और छात्राओं के जीवन में नई रोशनी आ सकती है। श्रम निकेतन ऐसा प्रयोग है जो दूर-दराज के बालक-बालिकाओं के लिए चलाया जाता है। ये बच्चे ज्यादातर अनाथ हैं। श्रम निकेतन के प्रयोग से बंधुआ मजदूरी का सकारात्मक विकल्प सामने आया है। राँची, पलामू, लोहरदगा, लातेहार के अंचलों से चुने गए बालक और बालिकाएँ श्रम निकेतन में शिक्षित हो रहे हैं। इससे उनका व्यक्तित्व विकसित हो रहा है। कुछ हुनर वे सीख रहे हैं। एक अनुमान है कि इस श्रम निकेतन से 156 छात्र-छात्राएँ ऊँची शिक्षा में जा सके। इससे ज्यादा छात्र-छात्राएँ स्वावलम्बी बन सकें। कुछ बच्चे नवोदय विद्यालय में चुने गए। यहाँ से बच्चे होनहार होकर निकलते हैं। यह अचानक नहीं हुआ है। कुछ साल पहले उन्हें श्रम निकेतन के आश्रम में रोकना मुशिकल काम था। अब यहाँ के बच्चों को देखकर लगता है कि वे पूरी तरह रम गए हैं। किसी बढ़िया आवासीय विद्यालय के माहौल जैसा यहाँ दिखता है। उन्हें सरस्वती, गायत्री और शान्ति पाठ का मंत्र उसी तरह याद है और उनके उच्चारण में प्रकट होता है जैसे कि वह उनके संस्कार का हिस्सा हो। इन प्रार्थनाओं में उन्हें जीवन का मंत्र मिल गया दिखता है। आखिर मंत्र होता क्या है? यही न कि जो अक्षर स्पष्ट

रूप से जिसे भी मिले उसे रास्ता दिखाए।

यह आम धारणा है कि आदिवासी देश की मुख्यधारा से कटे हुए हैं। अवश्य ही कुछ आदिवासी इलाके इस श्रेणी में आते हैं। उनमें झारखण्ड के आदिवासी नहीं हैं। वैसे तो पूरा झारखण्ड का चप्पा-चप्पा मुख्यधारा का हिस्सा है। जहाँ तक बिशुनपुर इलाके का सवाल है इसमें भी मुगलों से मुठभेड़ और अंग्रेजों से बगावत की सुगंध इस मिट्टी में हर कहीं पाई जा सकती है। जब 24 अगस्त 1949 को आदिवासी नेता जयपाल सिंह संविधान सभा में बोले उस समय उनके पास गिनाने के लिए ढेरों शिकायतें थीं फिर भी उन्होंने संविधान के लक्ष्य और उद्देश्य के प्रस्ताव का पूरा समर्थन किया। वे इस अंचल की भावना को प्रकट कर रहे थे। बिशुनपुर से थोड़ी ही दूर पर चिंगरी नाम का वह गाँव है जहाँ विकास भारती ने जतरा टाना भगत की मूर्ति लगाई है। इसे यूँ कहा जा सकता है कि विकास भारती ने बीसवीं सदी के सबसे बड़े आदिवासी समाज सुधारक को विलुप्त होने से बचा लिया है। उन्हें पुनः खोजा है। एक ऊँचे टीले पर उनकी मूर्ति लगाई गई है, जिसके नीचे उनके जन्म, आत्मबोध और देहत्याग की तारीख है। असल में एक घटना ने इन्हें समाज सुधारक बनाया। वे उराँव जनजाति में पैदा हुए थे। उनके समाज सुधार को अंग्रेजों ने अपने लिए खतरा माना। उन पर जनजातियों को भड़काने का आरोप लगा। वे जेल भेज दिए गए फिर भी आन्दोलन चलता रहा। उनके आन्दोलन को टाना भगत आन्दोलन कहा जाने लगा। अंग्रेजों की यातना से उनकी मृत्यु हुई। उसके दो साल बाद जब महात्मा गाँधी राँची आए तो इस आन्दोलन के लोगों से मिले। उन्हें पता चला कि आदिवासी इलाके में एक अहिंसक आन्दोलन पहले से ही चल रहा है। विकास भारती ने जतरा टाना भगत की खोज कर उस इलाके में चली आ रही परम्परा को टूटने से बचा लिया।

वैसे तो हमारे यहाँ भक्त कवियों ने रूपान्तरण के चित्रण बार-बार किए हैं। विद्यापति को याद करिए। वे अपने एक गीत में बताते हैं कि कैसे राधा क्षण-क्षण माधव रटते-रटते स्वयं माधव बन जाती है। 'अनुखन माधव-माधव सुमिरत सुन्दरि भेल मधाई। ओ निज भाव सुभावहिं विसरल अपने ई गुन लुगुधाई।' मतिराम हमें 'निहारिये नियरे' का अर्थ समझाते हैं। पर तुलसी का कोई जवाब नहीं। वे कहते हैं कि 'जानत तुमहिं तुमहिं होई जाई।' विकास भारती के दस संस्थापकों में एक नाम अशोक कुमार राय का है। बिशुनपुर में दो-तीन साल गुजारने के बाद कार्तिक पूर्णिमा के दिन अर्थात् 16 नवम्बर 1986 को उन्होंने एक फैसला अपने साथियों को सुनाया। यह फैसला कई मायने में असाधारण था जो नौजवान शहरी जीवन का आदी हो वह आदिवासी इलाके में काम करे यह तो समझ में आता है। पर, जिनके बीच में रहना है उनके जैसे हो जाने का वह फैसला था। उन्होंने अपने साथियों से कहा कि आज से सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनेंगे। पहले इस पर उनके साथियों ने कुछ जद्दोजेहद की। आखिरकार पुनई उराँव ने उन्हें एक धोती, एक चादर और एक लाठी भेंट की। उस

दिन इसी जीवन में उनका नया जन्म हुआ और वे अशोक भगत हो गए। पुनई उराँव विधायक रहे हैं और दिवंगत हो गए हैं। इस बारे में जितना सुना उससे ऐसा लगता है कि विकास भारती के बढ़ते कदम में आदिवासियों का पूरा सहयोग मिल रहा है। यह इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि उन्होंने अपना नेता पा लिया। जनजागरण और उससे निकली तमाम संस्थाओं के मूल में आदिवासियों का भरपूर सहयोग ही है।

अशोक भगत अपनी यह बात आदिवासियों के गले उतार चुके हैं। "विकास भारती अपनी योजना से समाज के लिए कार्य नहीं करती, बल्कि लोगों के सुख-दुख में यथासामर्थ्य सहभागी बनने का प्रयत्न करती है।" यही वह भरोसा है जो आदिवासियों को विकास भारती से मिला है। उसने अपना वही स्वभाव बनाया जो लोगों का है। सम्पूर्ण विकास का यह आन्दोलन इस समय नए आयाम ले रहा है। जन शिक्षण संस्थान और राज्य संसाधन केन्द्र के जरिए राँची में उसकी उपस्थिति महसूस होती है। बरियातू में आरोग्य भवन का परिसर है जहाँ विकास भारती का शोध एवं अध्ययन केन्द्र दो साल पहले मृदुला सिन्हा ने शुरू किया। वहीं सिगनी दर्ई की एक प्रतिमा लगाई गई है। सिगनी दर्ई उस वीरांगना का नाम है जिन्होंने रोहतास गढ़ किले में मुगलों के दौत खट्टे कर दिए थे। उस ऐतिहासिक घटना से यह भी जान सकते हैं कि झारखण्ड की उराँव जनजाति कभी रोहतास गढ़ के वैभवशाली राज्य की शासक थीं।

राज्य संसाधन केन्द्र के प्रकाशन झारखण्ड को समझने में सहायक हैं। राज्य के वीर सेनानी एवं शहीदों पर उसकी एक पुस्तिका है। विकास भारती शोध एवं अध्ययन केन्द्र से एक 'जंगल गाथा' छप रही है। विकास भारती की पुस्तिकाओं में एक 'प्रेरणा गीत' है। उसकी ये पंक्तियाँ वास्तव में प्रेरक हैं। बाप और बेटी का यह संवाद है। इसमें बाप अपनी बेटी से पूछता है कि तुम्हें क्यों पढ़ना है? उसे जवाब मिलता है जब पूछा ही है तो सुनो। बेटी के जवाब की आखिरी पंक्ति है अनपढ़ का नहीं जमाना है सो पढ़ना है।

## अज्ञेय के लिए व्यक्ति और समाज

### प्रभाकर श्रोत्रिय\*

संसार के दर्शनों, विचारों, विचारधाराओं के चिन्तन-मूल में व्यक्ति और समाज रहता है। इनकी विभिन्न संज्ञाओं, व्याख्याओं और अन्तर्बाह्य सम्बन्धों से दर्शनों और विचारधाराओं की भिन्नता रेखांकित होती है। सांस्कृतिक विचारधाराओं के सम्बन्ध में डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय कहते हैं कि ‘आत्मा और अनात्मा’ ‘अहं और इदं’ इन दोनों की प्रतीति के पीछे क्या मौलिक तत्त्व हैं, और वे किस प्रकार सम्बद्ध हैं, यह अनुसन्धान सभी सांस्कृतिक विचारधाराओं को उनका आधारभूत रूप प्रदान करता है। (वै.सं.पृ. 65) यही बात प्रकारांतर से राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक विचारधाराओं पर भी लागू होती है।

अज्ञेय एक गम्भीर सर्जक और विचारक हैं। उनके भीतर ‘सांस्कृतिक’ और ‘आधुनिक’ तथा ‘व्यक्तिवाद’ और ‘समाजवाद’ मिलकर एक समन्वित दृष्टि अन्वेषित करते हैं। इसी सन्दर्भ में उन्होंने ‘मम’ और ‘ममेतर’ शब्दों की सर्जना की है। ये शब्द मोटे तौर पर ‘व्यक्ति’ और ‘समाज’ या ‘अहं’ और ‘इदं’ को व्यक्त करते प्रतीत होते हैं, परन्तु अज्ञेय के यहाँ इनके मौलिक अर्थ हैं और इनके पारस्परिक सम्बन्धों में एक अनूठापन है। ‘मम’, अज्ञेय के यहाँ ‘मेरा’ अर्थात् मेरे हिस्से का संसार, मेरे हिस्से का सच, मेरे हिस्से का समय आदि है। ‘मम’ की यह व्याख्या उन्हें भारतीय दर्शन के अहं और पाश्चात्य व्यक्तिवाद, समाजवाद आदि के ‘व्यक्ति’ से अलग करती है, हालाँकि दोनों से अंशतः जोड़ती भी है। जैसे ‘मम’ वेदान्त के ‘अहं’ का ‘इदं’ को बेधकर ‘तत्’ से मिलने की उत्कटता वाला ‘आत्म’ नहीं है, परन्तु यह एक ‘स्व प्रकाशित चैतन्य’ है, जो वेदान्त के निकट है। ‘मम’ व्यक्तिवादी व्यक्ति भी नहीं है, जो अपने में केन्द्रित और समाज के प्रति नकारात्मक हो। उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य व्यक्तिवाद को आरम्भ में ‘अहमूवाद’ ही कहा जाता था। अज्ञेय का ‘मम’ समाज में तिरोहित व्यक्ति भी नहीं है, हालाँकि अपनी पूरी अस्मिता सहित वहाँ कतार में शामिल भी है, वह समर्पण तो करता है, लेकिन उसका समर्पण विसर्जित होने वाला नहीं।

\* सम्पादक, नया ज्ञानोदय।

पता : ए-601, जनसत्ता सहकारी आवास, सेक्टर 9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

आधुनिक युग में जिस व्यक्तिवाद से अज्ञेय का सामना था वह अस्तित्ववाद था। अज्ञेय ने एक ओर सार्त्र के अस्तित्ववाद को नकारा तो दूसरी ओर कीर्कगार्द और यास्पर्स के अस्तित्ववाद से प्रभावित भी हुए। (इसकी चर्चा हम आगे करेंगे)

अज्ञेय के इस ‘जुड़ने’ और ‘टूटने’ की या ‘मिलने’ और ‘टकराने’ की उनके विचार-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका है। आइए इस पर अलग-अलग विचार करें :

**सत्य** : ‘जितना तुम्हारा सच है उतना ही कहो’

**देश** : ‘तुम नहीं व्याप सकते, तुम में जो व्यापा है उसी को निबाहो।’

**समय** : इतना भर कहूँ :

इतना कर सकूँ

जब तक चुकूँ

यह जो ‘इतना’, ‘जितना’, ‘जो’ है वही ‘मम’ है, सृष्टि में ‘मैं’ का सृजन-भागसत्य में, देश में, समय में। प्रश्न यह है कि सृष्टि में ‘मैं’ का यह ‘अपना भाग’ चुनना क्यों जरूरी है? संभवतः इसलिए कि यही मनुष्य मात्र के चयन या स्वाधीनता का आधार है। यह व्यक्ति के एकाधिकारवाद या अहमूवाद को भी नियन्त्रित करता है; नैतिक मूल्यों को भी मजबूत करता है। जो चीज मेरी चेतना या सीमा से परे है वह मेरा परिवेश या मेरा प्राप्य नहीं है, यह विचार देश और काल के सतत परिवर्तनशील सम्बन्धों को मान्यता देता हुआ संस्कृति के विस्तार और प्रसार में वैयक्तिक कुण्ठा को बाधक नहीं बनने देता। ‘कुण्ठा रहित इकाई’ की जो बात अज्ञेय करते हैं वह व्यक्ति को ही कुण्ठा से निकालना नहीं है, कुण्ठित व्यक्ति से समाज या परिवेश को बचाना भी है। दूसरे शब्दों में यह विचार व्यक्ति के आतंक और उसकी अवांछित सत्ता से समाज की रक्षा करता है, ठीक वैसे ही जैसे यह समाज के आतंक और क्रूर दमन से व्यक्ति की रक्षा करता है। इस तरह अज्ञेय के तई यह एक ऐसा सम्यक दर्शन है जो व्यक्ति और समाज की महत्ता यथास्थान बनाए रखकर दोनों को एक-दूसरे के प्रति ग्रहणशील और उदार बनाता है। यह न तो व्यवस्था को रूढ़ि बनने देता है न व्यक्ति को कुण्ठित और असहिष्णु।

इसे किंचित दूसरे धरातल पर भी देखें। ‘ममेतर’ को हम आचार्य शुक्ल के शब्दों में ‘शेष सृष्टि’ कह सकते हैं, इससे ‘मम’ के सम्बन्ध स्नेह से भरे भी हैं और गर्वीले भी हैं। यानी समाज से संलग्नता के बावजूद रचनाकार व्यक्ति-स्वातंत्र्य का एक मूल्यपरक मानक बनाता है। स्नेह जोड़ता है, जबकि गर्व अपने अस्मिता बोध में अलग खड़ा हैदीप्त। यानी स्नेहभरे समर्पण के बावजूद, गर्व की एक तटस्थता है जो एक स्तर पर बाँधता और दूसरे स्तर पर मुक्त करता है। और यह बन्धन समाज से संलग्नता है, और कहीं नागरिक दायित्व भी है और यह मुक्ति तो है पर अलग छिटकी नहीं, यह अनुस्वारिता है।...कहीं स्वयंभू भी है और कहीं शिव को ‘शिव’ भी बनाती



है, कहीं शुद्ध ज्ञान भी है तो कहीं श्रद्धामय ज्ञान भी है जो व्यक्ति की पारम्परिक 'तन मन धन अर्पिति' से अलग, सचेत श्रद्धा है :

*यह दीप अकेला स्नेह भरा*

*है गर्व भरा मदमाता, पर इसे भी पंक्ति को दे दो।*

*यह प्रकृत स्वयंभू, ब्रह्म, अयुत : इसको भी शक्ति को दे दो।*

*यह जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय, इसको भक्ति को दे दो।*

'मम' की अज्ञेय के काव्य में जितनी संलग्न, समर्पित, गर्व भरी, सश्रद्ध और सचेत, स्वयंभू उपस्थिति है उसे यहाँ देखा जा सकता है। प्रेमिका को सम्बोधित अज्ञेय की एक कविता है 'ओ निस्संग ममेतर', यहाँ 'ममेतर' 'शेष सृष्टि' के अर्थ में नहीं है 'मेरा ही जो दूसरा भाग है' इस अर्थ में है, जिसका प्रयोग कालिदास का यक्ष यक्षिणी के बारे में 'जीवितं में द्वितीयम्' कहकर करता है। 'ममेतर' की आत्मांश के रूप में पुकार, 'ममेतर' के व्यापक अर्थ के प्रति कवि की दृष्टि को ध्वनित करती है और इसी स्नेह से भरे जुड़ाव को एक संवेदनशील जुड़ाव के रूप में रेखांकित करती है। इसे देखते हुए अज्ञेय को समाज के प्रति निषेधपरक, अहंकेन्द्रित व्यक्तिवाद से जोड़ना उचित नहीं है। 'नया कवि : आत्मोपदेश' में अहं को वर्जित करते हुए ये अज्ञेय ही तो हैं :

*शक्ति का मत गर्व कर*

*तू उपशमन कर*

*कहीं रूपाकार को, उसमें*

*छिपा है सार जो, वह वर।*

एक अन्य कविता 'दिया हुआ, न पाया हुआ' में वे 'अहम्' को अहंकार या निषेधमूलक व्यक्तिवाद से अलग करते हैं :

*सबसे पहले तो यह बात*

*कि मैं अवध्य नहीं हूँ।*

*कोई भी हवा मुझे उखाड़ सकती है,*

*कोई भी दाँव मुझे पछाड़ सकता है,*

*किसी भी खाई से मैं फिर सकता हूँ*

*किसी भी जाल में फँस, दलदल में धँस,*

*कुंज में रम या गली-कूचे में बिलम सकता हूँ,*

*किसी भी ठोकर से औंधे-मुँह गिर सकता हूँ।*

सीमा और विचलन-बोध की यह दृष्टि भला किसी को एकान्त अहम् और आत्ममुग्धता की बन्दी बना सकती है। यह युगपत बोध है, एक सर्जक का प्रजातन्त्र

है, जहाँ ममेतर की स्वाधीनता यानी सृष्टि के प्रजातंत्र के लिए पूरा स्पेस है क्योंकि यह हुए बिना उसका कोई अर्थ नहीं।

अज्ञेय के भीतर भारतीय और पाश्चात्य 'मम' के स्पष्ट और पृथक् बिम्ब थे। ये बिम्ब 'अपने-अपने अजनबी' की सेल्मा एकेलोफ और योके में देखे जा सकते हैं। दोनों ग्लेशियर से दबे बर्फ के एकान्त में अकेली हैं। योके पाश्चात्य संस्कृति के व्यक्तिवाद का प्रतीक है और सेल्मा भारतीय संस्कृति के 'व्यक्ति' का। योके क्षण में जीती है, जबकि सेल्मा स्मृति में, वह एक काल में नहीं काल की निरन्तरता में जीती है। दोनों की मृत्यु एक तरह से इच्छा मृत्यु है, लेकिन सेल्मा की मृत्यु तप-मृत्यु है अत्यन्त शान्त, अखिन्न लेकिन योके की मृत्यु, मृत्यु नहीं, एक तरह से आत्महत्या है हाहाकार, घृणा, क्षोभ से भरी हुई। मृत्यु में भी एक अहंकार है, ईश्वर को माफ करनेवाला अहंकार। इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ दो संस्कृतियों का स्तरीकरण किया जा रहा है, वास्तव में उस प्राकृतिक अन्तर को दर्शाया गया है जो दो संस्कृतियों, दो जीवन दर्शनों में रहते हुए सभ्यता को अपने ढंग से गतिशील करती हैं।

यह ठीक है कि योके स्वयं अहं और नकार की प्रतिमूर्ति है, जिससे कथाकार की अनुरूपता नहीं बन सकती उस अवधारणा के कारण जो उसका रचना-मानस बनाता है। मुझे लगता है कि 'शेखर : एक जीवनी', के आत्यंतिक व्यक्तिवाद और कातर आत्मव्यथा से अधिक विकसित अस्तित्वीय प्रश्न इस कृति में उठाए गए हैं। लगता है अज्ञेय अपने 'व्यक्ति' या 'आत्म' का निरन्तर परीक्षण और परिष्कार करते रहे हैं। अन्त में शायद वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानवीय स्वतंत्रता को समाज और संस्कृति से काटकर नहीं देखा जा सकता। कटने पर तो वह अकेले की स्वाधीनता होगी और अकेला हो जाने पर कोई 'स्वाधीनता' नहीं होती, सिर्फ अकेले हो जाना होता है। जाहिर है यह 'अज्ञेय' को मान्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की स्वाधीनता और उस स्वाधीनता में देश-काल-परिवेश की भूमिका की काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'नदी के द्वीप' में हुई है। अज्ञेय का 'मम' यद्यपि नदी का द्वीप है, परन्तु 'वह' देश और काल से राग या 'स्नेह' से जुड़ा है। द्वीप यदि व्यक्ति है तो वृहत भूखंड देश है जिसे वह 'पितर' की गरिमा देता है। नदी जो द्वीप को रचती-सँवारती है वह उसे देश से जोड़ती भी है और अलग भी करती है, वह काल-प्रवाह की सूचक है, और द्वीप की माँ है

*माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।*

लगता है 'नदी के द्वीप' को यदि 'दीप अकेला' के साथ पढ़ा जाए तो अज्ञेय की व्यक्ति और सर्जक-दृष्टि की पुष्टि होती चलती है। 'नदी के द्वीप' में है

*स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के*

और दीप अकेला, भी है और स्नेह भरा भी है जो 'पंक्ति', 'शक्ति' और 'भक्ति' को स्वयं अपने को देने की कामना करता है। यह तटस्थता और समर्पण क्यों है इसका अर्थ 'नदी के द्वीप' में और खुलता है :

*बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।*

*और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?*

*(रेत बनाकर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे)*

और जैसा 'अपने-अपने अजनबी' के बारे में ऊपर कहा है कि उसके दो चरित्र, दो जीवन-दर्शन और जीवन-प्रणाली की अपनी-अपनी गढ़न है, वह स्तरीकरण नहीं है। अब आप 'नदी के द्वीप' में देखें

*द्वीप हैं हम।*

*यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है*

*हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी की क्रोड़ में*

*वह वृहद् भूखंड से हमको मिलाती है*

*और वह भूखण्ड अपना पितर है।*

व्यक्तित्व या अस्मिता का बोध और काल-प्रवाह से प्रतिश्रुति आत्म-विश्वास को जन्म देती है, जो एक ओर परनिर्भरता या दूसरे में (समाज में ही सही) तिरोहित होने में नहीं होती न उसके अनुपस्थित होने में होती है। भला पात्र के बिना तरलता को धारण कौन करेगा? समष्टि, समाज या ममेतर यही पात्र हैं। इसीलिए द्वीप निराश नहीं है, उसमें आत्म विश्वास है; कभी (काल प्रवाह में) वह भी गए तो फिर जमेगे 'कहीं फिर खड़ा होगा, नए व्यक्तित्व का आकार।'

यहाँ देश-काल दोनों के प्रति अकृतज्ञता नहीं है, बल्कि एक आदर-स्नेह के सम्बन्ध हैं, परन्तु व्यक्तित्व की सचेतता, संघर्ष, जिजीविषा के साथ। इस सम्बन्ध की व्याख्या पाश्चात्य व्यक्तिवाद से नहीं, भारतीय 'आत्मवाद' से ही हो सकती है, इस आत्मवाद के बारे में जयशंकर प्रसाद के उपन्यास 'तितली' के रामनाथ बहुत ही मार्के की बात कहते हैं

'भारतीय आत्मवाद के मूल में व्यक्तिवाद है, किन्तु उसका रहस्य है समाजवाद की रुढ़ियों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ है व्यक्ति की समता की प्रतिष्ठा।'

यहाँ सन्दर्भ-च्युत होकर भी मैं कहना चाहता हूँ कि नई कविता के दौर में अज्ञेय एक ऐसे रचनाकार हैं, जो अपने विचार, व्यक्तित्व और अन्य प्रवृत्तियों में जयशंकर प्रसाद के निकट पड़ते हैं। इसे मैं विजयदेवनारायण साही की तरह आवयविक समानता नहीं कहूँगा, बस एक निकटता है, कहीं भीतरी साम्य भी है जो

अज्ञेय के अस्वीकार के बावजूद वहाँ मौजूद है। वैसे कभी-कभी यह भी होता है कि जो हममें झाँकता है, हमारी आत्म सजगता उसका अक्सर प्रत्याख्यान करती है। खैर 'आत्मवाद' की प्रसाद की इस उपस्थापना में गौर करने की बात यह है कि यह समाजवाद या समाज से स्वतन्त्रता नहीं, उन रुढ़ियों से स्वतन्त्रता है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीनती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बचाने का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बचाना यानी सबकी समता। 'अहं ब्रह्मास्मि' में निहित 'आत्मवाद' सबके भीतर ब्रह्म को देखे बिना पूर्ण नहीं होता। अज्ञेय पूछते हैं

'क्या कोई अकेला स्वाधीन हो सकता है? क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी सम्भावनाओं को ऐसे ही परिवेश में पा सकता है, जिसमें दूसरे भी अपनी चरम सम्भावनाओं को पूरी तरह से प्राप्त करने के लिए समान रूप से स्वाधीन हों।'

यही बात मुक्तिबोध कहते हैं 'अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते।'

परन्तु दोनों के लिए व्यक्ति की मुक्ति में अर्थ-भेद है। मुक्तिबोध के लिए यह 'सामूहिक मुक्ति' है और अज्ञेय के लिए 'समूह में मुक्ति' परन्तु इसका कोई विरोध समूह की मुक्ति से नहीं है और दरअसल मुक्त समूह ही व्यक्ति को मुक्त कर सकता है। यानी अज्ञेय के लिए अकेले का स्वाधीन न होना दरअसल समाज से व्यक्ति के सहसम्बन्ध का स्वीकार है, जैसा कि वे हर जगह करते रहे हैं। इस दृष्टि से पश्चिमी व्यक्तिवाद की वह दृष्टि जो मानती है कि समाज का आवयविक अस्तित्व नहीं है, और वह स्वतन्त्र व्यक्तियों का योग हैं, अज्ञेय के व्यक्तिवाद और भारतीय 'आत्मवाद' से एक हद तक निकट प्रतीत होती है। (अपनी बेतरतीब सामूहिक उपस्थिति के कारण नहीं, बल्कि मानव की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा के कारण।) एक अन्य दृष्टि से दोनों का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य कुछ अलग सत्ता रखता है। आप चाहें तो इनमें क्रमशः भौतिक और आध्यात्मिक प्रतीतियों को देख सकते हैं और यह भी कि आध्यात्मिकता, नैतिकता और संवेदनशीलता के स्पर्श के बिना निरे 'व्यक्तिवाद' द्वारा किए विघटन को रोकना कठिन होता है। पारिवारिक विघटन का जैसा दृश्य हम पश्चिम में देख रहे हैं वह इसी व्यक्तिवाद से जन्मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की चरम दशा है जो उत्तर-संरचनावादी विमर्श में अपने सार्वत्रिक विखंडन में मौजूद है। आप देखें कि अज्ञेय का व्यक्ति 'द्वीप' ही नहीं 'दीप' भी है। इसके पास अपना जो कुछ स्नेह और गर्व है, उसे वह पंक्ति (समाज) को देना चाहता है। परन्तु यहाँ भी उसका विसर्जन नहीं होता। वह 'ममेतर' पंक्ति में 'मम' है, उसकी उपस्थिति, अपने अस्तित्व में पूर्ण सतेज है। पंक्ति में रहते हुए भी हर एक अद्वितीय है। यहीं समतावाद या आत्मवाद; समाजवाद से अलग होता है क्योंकि यहाँ व्यक्ति समाज में विलीन या तिरोहित नहीं होता। उसका तोप नहीं होता। अपनी सम्पूर्ण सत्ता सहित वह समाज की एकता में अपनी प्रतिभा, नैतिकता, संवेदना और दायित्व सहित उपस्थित है। दूसरी ओर 'ममेतर' भी व्यक्ति-निरपेक्ष नहीं,

व्यक्ति-सापेक्ष है, उसके व्यक्तित्व को पूरी तरह सम्मानित करनेवाला। अज्ञेय 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की एक कविता में संकेत करते हैं कि मछली (व्यक्ति) सागर (समाज या ममेतर) को ही नहीं टेर रही है, सागर भी मछली को टेरता है। ये परस्पर टेरते हुए दोनों ही हमारे काम्य हैं

*‘अर्थ हमारा  
जितना है, सागर में नहीं  
हमारी मछली में है  
सभी दिशाओं में सागर जिसको घेर रहा है  
हम उसे नहीं  
वह हमको टेर रहा है।’*

व्यक्ति और समाज की इस परस्परता में न तो व्यक्ति पर समाज का निरंकुशताविरोधी पाश्चात्य व्यक्तिवाद हावी है, न समाज में अपने को तिरोहित करने वाला साम्यवाद या समाजवाद। यह भारतीय आत्मवाद अधिक प्रतीत होता है।

इस अवधारणा की रोशनी में ही अज्ञेय के कथित 'अस्तित्ववाद' को देखना चाहिए। अज्ञेय सार्त्र के अस्तित्ववाद से न इत्तफाक करते हैं न प्रभावित हैं, वे कीर्कगार्द और यास्पर्स के ईसाई अस्तित्ववाद को स्वीकार करते हैं, किसी धार्मिकता के कारण नहीं वरन् 'वरण की स्वाधीनता' के कारण। इस बारे में गलतबयानी से क्षुब्ध अज्ञेय कहते हैं

“हिन्दी के परिश्रम विरोधी समाजवादी आलोचक मुझको भी अस्तित्वाद और सार्त्र का अनुयायी कह देते हैं, उनके सम्मुख तो यह निवेदन करना भी निष्प्रयोजन है कि सार्त्र का साहित्यिक अस्तित्ववाद मेरे लिए विशेष आकर्षण कभी नहीं रहा है, यद्यपि मैंने पढ़ना-समझना उसे भी चाहा, जैसे अन्य साहित्यिक सिद्धान्तों को समझना चाहता रहा, लेकिन उन दो प्रवृत्तियों में, जिन्हें ईसाई अस्तित्ववाद और वैज्ञानिक अस्तित्ववाद कहा जाता है, मेरी विशेष रुचि रही है।”

और ईसाइयत की (1) संघटित चर्च-प्रणाली और (2) विकल्प की स्वाधीनता के द्वन्द्वत्मक सम्बन्ध में ही दरअसल अस्तित्ववादी 'वरण की स्वाधीनता' रूपायित हुई है। कदाचित् इसीलिए सार्त्र की अपेक्षा कीर्कगार्द और यास्पर्स जैसे अस्तित्ववादी अज्ञेय की दिलचस्पी का विषय रहे। यास्पर्स की अस्तित्वीय चिन्ता का मूल है 'अभीष्ट वरण के विकल्पों की स्वाधीनता।' वे व्यक्ति और जगत के बीच 'सम्पर्क-संचार' को अनिवार्य मानते हैं और तदजन्य टकरावों को भी। यास्पर्स में सम्भवतः अज्ञेय ने अपनी सांस्कृतिक चेतना की अनुरूपता भी पाई और व्यक्ति की निजी सत्ता, यानि 'मम' की स्वाधीनता भी।

मम और ममेतर के सम्बन्ध के बीच निहित बौद्ध दुःखवाद और मसीही करुणा की साझा उपस्थिति को भी रेखांकित करना चाहिए क्योंकि वे इन सम्बन्धों को अधिक मानवीय और मूल्यपरक बनाते हैं, इनमें एक मसृणता और संवेदन पैदा करते हैं। अज्ञेय का यह कहना कि 'दुःख सबको मौजता है' मात्र एक सूक्ति नहीं, एक रचनाकार और विचारक की संवेदनशील प्रतिपत्ति है।

अन्त में यह जानना भी जरूरी है कि 'मम' और 'ममेतर' की यह व्याख्या और सम्बन्ध कहीं कलावादी बौद्धिकता तक ही तो सीमित नहीं है और क्या यह समकालीन प्रगतिवादी या समाजवादी चिन्ताओं से परे, अघाए हुए आदमी के अपने द्वीप या दीप की अस्तित्वीय पीड़ा का ही तो दूसरा पाठ नहीं है? इस सम्बन्ध में अज्ञेय की ये पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहता हूँ जिनमें वे एकांगी सोच को नकारते हुए, मनुष्य की स्वाधीन सत्ता का संवेदनात्मक प्रसार हर दिशा में देखना चाहते हैं

*क्योंकि मैं/यह नहीं कह सकता/कि मुझे/उस आदमी से कुछ नहीं है/जिसकी आँखों के आगे उसकी लम्बी भूख से बढ़ी हुई तिल्ली/एक गहरी मटमैली पीली झिल्ली-सी छा गई है। और जिसे इसलिए चाँदनी से कुछ नहीं है/इसलिए/मैं नहीं कह सकता/कि मुझे चाँदनी से कुछ नहीं है/क्योंकि मैं/उसे जानता हूँ/जिसने पेड़ के पत्ते खाए हैं/और जो उसकी जड़ की लकड़ भी खा सकता है/क्योंकि वह मुझे प्यारा है, इसलिए मैं पेड़ की जड़ को या लकड़ी को/अनदेखा नहीं करता/बल्कि पत्ती को/प्यार भी करता हूँ/और करूँगा/क्योंकि जिसने कोड़ा खाया है/वह मेरा भाई है/क्योंकि यों उसकी मार से मैं तिलमिला उठा हूँ/इसलिए मैं उसके साथ नहीं चीखा-चिल्लाया हूँ :/मैं उस कोड़े को छिनकर तोड़ दूँगा/मैं इन्सान हूँ और इन्सान का वह अपमान नहीं सह सकता।*

(क्योंकि मैं, सदानेरा, 216)

सत्य के अनेक पहलू हैं, एक स्वाधीन चेता कवि इसीलिए सत्य को इकहरा और सीमित नहीं कर सकता। वह मानवीय संवेदना और प्रकृति-सौन्दर्य या जीवन के विविध व्यापारों में से किसी को काट नहीं सकता। वस्तुगत और आत्मगत संसार में ऐसी समष्टि मूलक या समग्र उपस्थिति ही अज्ञेय के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक संलग्नता की समवेत सार्थक उपस्थिति है।

## देश-द्रोह की फेलोशिप

### शंकर शरण\*

राष्ट्रीय झंडा कपड़े का टुकड़ा मात्र है, जो दिमाग को तंग बनाता है,  
और मुर्दों को लपेटने के काम आता है। (अरुंधती राय)

**23** जून 2005 को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने विदेशी मुद्रा विनियमन कानून, 1976 को निरस्त करके एक कड़ा विधेयक लाने का निर्णय लिया। कारण यह कि भारत में विदेशों से चन्दा, अनुदान आदि लेकर उसके दुरुपयोग के मामले चिन्ताजनक रूप से बढ़ गए हैं। इस सिलसिले में सरकार ने ग्यारह गैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) को काली सूची में भी डाला है। कहने की जरूरत नहीं कि यह समाचार मात्र एक संकेत है। कानून के अनुपालन की दृष्टि से हमारे देश की लचर स्थिति को देखते हुए पूरे मामले के पैमाने की कल्पना की जा सकती है। बल्कि यहाँ तक सम्भव है कि सरकार जिस 'कड़े' कानून बनाने का प्रस्ताव कर रही है, वह कुछ और ही चीज निकले। क्योंकि देश में अनेक शक्तिशाली एन.जी.ओ. ऐसे किसी भी कानून को वांछनीय ही नहीं मानते। इन संगठनों में कई राजनीतिक रूप से भी सक्रिय, बड़े प्रभावशाली और साथ ही साथ 'अल्पसंख्यक' पहचान वाले अतिरिक्त अधिकार सम्पन्न एन.जी.ओ. हैं। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि किसी कठोर कानून के नियंत्रण में आने के उलट वे व्यवहारतः और भी छूट प्राप्त कर लें!

अभी देश में तीस हजार से भी अधिक संगठन हैं जो विदेशी अनुदान लेते हैं। हर वर्ष कम से कम 5,000 करोड़ रुपया इनके पास आता है। भारतीय गृह मंत्रालय अपनी सालाना 'फॉरेन इनवार्ड रेमिटेंस रिपोर्ट' में इनके आँकड़े प्रकाशित करता है। देश में हर वर्ष आने वाला यह पैसा सबसे अधिक अमेरिका, फिर इंग्लैंड और जर्मनी से आता है। सबसे अधिक मात्रा में यह धन दिल्ली पहुँचता है, फिर तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक का नम्बर आता है। कहने के लिए यह विशाल, सालाना रकम मुख्यतः गरीबों की सेवा और उनकी स्थिति सुधारने के लिए दी जाती है। परन्तु इस पर सरसरी नजर डालने से भी पता चलता है कि इन विदेशी पैसों से यहाँ मुख्यतः क्या हो रहा है। ईसाई संस्थाओं को सबसे अधिक धन मिलता है। उदाहरण के लिए,

\* लेखक राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद के प्राध्यापक हैं। पता : ए (बी एवं सी)-3160, वसंत कुंज, नई दिल्ली 110070

कर्नाटक में विदेशी चन्दा पाने वाली 1192 रजिस्टर्ड संस्थाएँ हैं जिन्हें वर्ष 2001-02 में 534 करोड़ रुपए मिले थे। इनमें ईसाई संगठनों का हिस्सा 471 करोड़ रुपए था। यह पता लगाना हमारे समाचार पत्रों, टी.वी. चैनलों, पत्रकारों का आवश्यक काम होना चाहिए कि सालाना इतनी बड़ी मात्रा में विदेशी धन पाने वाली यह संस्थाएँ कौन हैं, किन कामों में लगी हैं, और उनका कितना उपयोग सचमुच सामाजिक कामों में हो रहा है। किन्तु यह भी लाक्षणिक है कि हमारे देश में सरकारी, राजनीतिक संगठनों में एक लाख रुपए की रिश्वत/चन्दा लिए जाते पकड़े जाने पर तो तहलका मचाया जाता है। किन्तु कतिपय एन.जी.ओ. संगठनों, व्यक्तियों द्वारा ज्ञात-अज्ञात स्रोतों से जिनमें विदेशी सरकारी संगठन, सन्देशास्पद स्रोत भी हैं प्राप्त राशि पर किसी खोज-बीन का प्रयास नहीं किया जाता।

यह समझने के लिए बहुत गहरे शोध की जरूरत नहीं है कि आज दुनिया में अनेक सरकारें और प्रभावशाली शक्तियाँ हैं जो अपने-अपने उद्देश्य से भारत के विरुद्ध कार्यरत हैं। कोई भारत में अपने पसन्द की आर्थिक, व्यापारिक नीतियाँ बनवाना चाहता है, कोई विशेष तरह की विदेश नीति चाहता है, कोई यहाँ की उच्च शिक्षा में पश्चिमी-ईसाई विचारधारा का वर्चस्व बनाए रखना चाहता है, तो कोई भारतीय समाज को विभिन्न आधारों पर निरन्तर बाँटे रखना और उनमें झगड़ा बढ़ाना चाहता है। कोई हिन्दुओं का धर्मान्तरण कराने के लिए कटिबद्ध है, तो कोई यहाँ फिर से इस्लामी राज कायम करने के लिए लगा हुआ है। तो कोई और भी शक्तिशाली एजेंसी ऐसे कामों के लिए इच्छित किस्म की सरकार या मंत्री बनवाने के भी उपक्रम करती रहती है। इसके लिए किसी की छवि उभारी जाती है, तो किसी की बिगाड़ी जाती है।

तीस-पैंतीस वर्ष पहले जब इंदिरा गाँधी बार-बार कहा करती थीं कि इस या उस गड़बड़ी में 'विदेशी हाथ' है तो कई विपक्षी और कम्युनिस्ट नेता उनका मजाक उड़ाते थे। किन्तु इंदिरा जी का कहना पूरी तरह निराधार नहीं था। स्वयं भारत के कम्युनिस्ट नेता रूसी और चीनी सरकारों का, और उनकी विदेश नीति के विविध लक्ष्य साधने के लिए औजार का काम करते थे। प्रतिष्ठित अंग्रेजी मासिक *सेमिनार* की संस्थापक राज थापर ने अपने संस्मरणों (*आल दीज इयर्स*) में इसके अनगिनत हवाले दिए हैं। उन्होंने दिल्ली स्थित अरब देशों के कूटनीतिज्ञों द्वारा कांग्रेस पार्टी के अन्दरूनी मामलों को प्रभावित करने और भारत को नीचा दिखाने की भी चर्चा की है।

लेकिन भारत को अपने हित में प्रभावित करने के प्रयास में सोवियत, चीनी संस्थाएँ या अरब सत्ताधारी अकेले नहीं थे। पश्चिमी देशों की अनेक एजेंसियाँ, मिशनरी संगठन और गुप्तचर संस्थाएँ विभिन्न शैक्षिक, सांस्कृतिक, समाजसेवी संगठनों की आड़ में यहाँ सदैव सक्रिय रही हैं। उनकी सक्रियता में सन् 1971 के बाद और तेजी आई। उस वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका के सारे प्रयास के बावजूद और उसकी धौंस-धमकी से भी अविचलित रहकर प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने बंगलादेश

बनवाने में एक केन्द्रीय भूमिका निभाई थी। पाकिस्तान अमेरिका का सहयोगी था, फिर भी उसका विखंडन हुआ, इसका बदला लेने की लगभग खुली घोषणा अमेरिकी विदेश मंत्री हेनरी किस्सिंगर ने की थी। 1971 के तुरत बाद इंदिरा गाँधी के विरुद्ध देश में जो आन्दोलन तेज हुए, उसमें निस्सन्देह बाहरी समर्थन भी था।

भारत के बुद्धिजीवी वर्ग को अपने प्रभाव में लाना, और उनमें नेतृत्वकारी लोगों के बीच अपने सेवक/मित्र तैयार करना इस पूरी प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। आज भारत में सामाजिक विज्ञान (इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, साहित्य आदि) के अध्ययन-अध्यापन में अमेरिकी और ब्रिटिश एजेंसियों की पैठ कितनी गहरी हो चुकी है, इसकी सम्पूर्ण तस्वीर तैयार करना एक बड़ा और आवश्यक काम है। इसके संकेत तो मिलते रहते हैं किन्तु प्रमाणिक विवरणों, घटनाओं का उल्लेख नहीं के बराबर होता है। इसका एक कारण यह भी है कि भारत में इन एजेंसियों ने मुख्यतः उन्हीं बड़े विद्वानों, बुद्धिजीवियों को अपना मुलाजिम या सलाहकार बना रखा है जो राजनीतिक, वैचारिक रूप से सर्वाधिक सक्रिय और प्रभावशाली हैं। भारत स्थित बड़े विदेशी प्रकाशन संस्थाओं पर नजर डाल कर उसका अनुमान हो सकता है। जाने-माने वामपंथी प्रचारक वहाँ कुर्सी जमाए नजर आते हैं।

स्व. सीताराम गोयल ने लगभग पच्चीस वर्ष पहले ही लिखा था कि भारतीय मार्क्सवादियों की हिन्दू-विरोधी भावना इतनी उग्र है कि यदि कभी सोवियत सहारा न रहा तो वे खुशी-खुशी सीधे अमेरिकी और मिशनरी गोद में जा पहुँचेंगे। यह भविष्यवाणी सटीक साबित हुई है। दो-तीन दशक पहले तक जो वामपंथी बुद्धिजीवी हर बात में अमेरिका को कोसा करते थे, वही आज सबसे अधिक न्यूयॉर्क की सैर करते हैं, तरह-तरह की अमेरिकी, यूरोपीय, मिशनरी, आदि संस्थाओं से वहाँ आने के निमंत्रण पाते हैं, वहाँ जा-जाकर भारत-विरोधी, हिन्दू-विरोधी भाषण और प्रचार करते हैं। यह सच है कि उनका हिन्दू-विरोध अमेरिका-विरोध से अधिक गहरा साबित हुआ। मीडिया में भी वामपंथी जमात का खासा वर्चस्व है, इसलिए इस पूरी प्रक्रिया की तस्वीर कभी साफ नहीं आने पाती। आखिर कभी साल में दो बार मॉस्को या बर्लिन जाने वाले वामपंथी बुद्धिजीवी अब साल में दो बार कैलिफोर्निया या फ्रैंकफर्ट कैसे और क्यों जाने लगे! यह समझना भोलापन होगा कि यह सब अनायास हुआ। क्या यह संयोग है कि हमारे मीडिया में अमेरिकी, चीनी और पाकिस्तानी संवेदनाओं का जितना ख्याल देखा जाता है उसका चतुर्थांश भी भारतीय संवेदनाओं के लिए नहीं दिखाया जाता? उदाहरण के लिए, नेपाल में लोकतंत्र बहाली के लिए यहाँ कड़े से कड़े लेख और सम्पादकीय लिखे जा रहे हैं। किन्तु पाकिस्तान और चीन के लिए लोकतंत्र की कोई चिन्ता नहीं की जाती! बल्कि उसका नाम तक नहीं लिया जाता। उल्टे पाकिस्तानी और चीनी तानाशाहों के साथ फोटो खिंचवाने, उनका आतिथ्य पाने के लिए हमारे उन्हीं लेखकों, पत्रकारों की लाइन लगी रहती है।

यह भी नोट करने लायक बात है कि आर्थिक उदारीकरण के बाद भारत के बौद्धिक जगत में पश्चिमी एजेंसियों की पैठ तेजी से गहरी हुई। एक तो सोवियत विघटन के बाद वामपंथी बौद्धिक नेता अनाथ से हो गए थे। अतिरिक्त सुख-सुविधाओं, विदेश यात्राओं की चाह उन्हें परेशान कर रही थी। दूसरी तरफ, आर्थिक कानूनों में उदारता आने का लाभ पश्चिमी, ईसाई और अरब संस्थाओं ने सबसे अधिक उठाया। आज अनेक विदेशी संस्थाएँ भारत में खुल कर अपना कारोबार चला रही हैं। इसके तहत यहाँ राजनीति, मीडिया और शिक्षा समेत हर क्षेत्र के महत्वपूर्ण लोगों को तरह-तरह से अपने साथ 'जोड़ने' का काम हो रहा है। सेमिनार, सम्मेलनों के नाम पर दुनिया घूमने का निमंत्रण देना एक रास्ता है। पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित साफमा (साउथ एशियन मीडिया फोरम) के बैनर के तले हमारे कितने ही पत्रकार कुछ ही समय में कई बार पाकिस्तान यात्रा कर चुके हैं। किन्तु यह प्रश्न कोई नहीं पूछता कि सारे इन्तजाम के लिए इस नई संस्था को करोड़ों रुपए कौन दे रहा है? इसी तरह, किन्हीं ज्ञात-अज्ञात संस्थाओं द्वारा पुरस्कार दिया जाना भी एक तरीका है। फिर कई बड़े लोगों के बच्चे अमेरिकी शिक्षण संस्थाओं में बिना वित्तीय खर्च उठाए शिक्षा पा रहे हैं।

इस परिदृश्य का परिणाम क्या हो रहा है?

नवम्बर 1999 में वाजपेयी सरकार ने कैथोलिक ईसाइयों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रमुख पोप का भारत में लाल कालीन बिछा कर स्वागत किया था। जबकि ठीक दिल्ली में खड़े होकर पोप ने 'एसिया को धर्मान्तरित करने' और 'आत्माओं की फसल काटने' का खुला आह्वान किया। इसके बाद भी प्रधानमंत्री वाजपेयी ने खुद रोम जाकर पोप को पुनः सलामी दी। फिर भी इसी सरकार को अमेरिकी, पश्चिमी मीडिया और प्रचारकों ने 'ईसाई विरोधी' कह कर लगातार लांछित किया। इसके ठीक विपरीत चीन की कम्युनिस्ट सरकार विदेशी ईसाई मिशनरियों को 'आध्यात्मिक आक्रमणकारी' कह कर अपने देश में घुसने तक नहीं देतीपोप को भी नहीं। तब भी चीन को अमेरिका ने 'मोस्ट फेवर्ड नेशन' का दर्जा दिया हुआ है। इसे कैसे समझा जा सकता है?

इससे सम्बन्धित कुछ और गम्भीर सवाल हैं। यू.यू. होल्डेन इण्डिया प्रोग्राम (यू.यू.एच.आई.पी.), फंड फॉर ग्लोबल ह्यूमन राइट्स (एफ.जी.एच.आर.), ह्यूमन राइट्स वाच (एच.आर.डब्ल्यू.), कार्डिनल फॉर फॉरेन रिलेशंस (सी.एफ.आर.), फ्रेंड्स ऑफ वीमेस वर्ल्ड बैंकिंग इण्डिया (एफ.डब्ल्यू.डब्ल्यू.बी.), यू.एस.एड., डी.एफ.आई.डी., अमनेस्टी इंटरनेशनल, पैक्स क्रिस्टी, आदि संस्थाएँ क्या बला हैं? इनका अन्तर्राष्ट्रीय रिकॉर्ड, वित्तीय-राजनीतिक ताकत एवं चालू कार्य योजनाएँ क्या हैं? इनके कर्ता-धर्ता कौन हैं? उक्त संस्थाएँ भारत में किन-किन संस्थाओं, महानुभावों पर मेहरबान हैं, और क्यों? पश्चिमी मिशनरी तथा अन्य संस्थाओं द्वारा दिए जा रहे 'पीस एवार्ड', 'पीस फेलोशिप' आदि का वास्तविक मतलब क्या है?

उदाहरण लें। भारतीय आई.ए.एस. अधिकारी के रूप में जेम्स लिंगडोह की अपने पूरे कैरियर में कभी कोई चर्चा नहीं हुई थी। तब यकायक वह कौन-सी विशेष बात हुई कि उन्हें मैगासेसे पुरस्कार से नवाजा गया? इसी प्रकार हर्ष मांदेर गुजरात में अफसर थे। हाल के दंगों के बाद उन्होंने कुछ ध्यानाकर्षक बयान दिए। फिर इस्तीफा देकर ऊपर गिनाई गई एक विदेशी संस्था के भारत प्रमुख बन गए। अब उनकी तनखाह बहुत बड़ी है। अरुंधती राय ने केवल एक उपन्यास लिखा। उसके बाद या इसके अलावा उनमें कौन-सी खासियत पैदा हो गई कि वह हर विषय की अधिकारी व्याख्याता मान ली गई हैं? अतएव मांदेर, अरुंधती राय, तीस्ता सीतलवाड, एडमिरल रामदास, शबनम हाशमी, जॉन दयाल, संदीप पांडेय, मार्टिन मैक्वान, प्रफुल्ल बिदवर्द, प्रवीण स्वामी, जैसों के विचार और कार्यों में वह क्या अनोखापन है कि उन पर पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय निमंत्रणों, पुरस्कारों और वजीफों की बौछार हो रही है? क्या इनके कार्य-विचारों में कोई समानता, कोई खास पैटर्न है? उनका निहितार्थ क्या है? इन तमाम प्रश्नों का प्रमाणिक उत्तर खोजना आज बिलकुल अनिवार्य बन गया है। अन्यथा हम भारतवर्ष पर मँडरा रहे गम्भीर खतरे को पहचान भी नहीं सकते। उसका सामना करना तो दूर रहा।

सच पूछें तो अमेरिका ने मूर्ख मित्र (भारत) के बजाए चतुर शत्रु (चीन) को 'मोस्ट फेवर्ड नेशन' देश घोषित कर कोई गलती नहीं की है। वह अपना लाभ और राजनीति का बुनियादी नियम अच्छी तरह जानता है, जो हमारे बुद्धिजीवी और अधिकतर राजनेता भी कतई नहीं जानते। हमारे देश के सुशिक्षित भी अमेरिका के कार्टर सिद्धान्त से अपरिचित लगते हैं। उसमें दुनिया के अनेक देशों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था। अमेरिका के ऊपर निर्भर, अमेरिका को नजराना देने वाले और अमेरिका के लगभग गुलाम देश। पता नहीं भारत किस श्रेणी में आता है। किन्तु इतना निर्विवाद है कि अमेरिकी सरकार ही नहीं, अमेरिकी मिशनरी, मीडिया और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी भारत के लिए भिन्न पैमाने का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए अमेरिकी प्रशासन और मीडिया अपने देश में मार्क्सवादियों को घृणा से देखता है, किन्तु भारत में यहाँ के मार्क्सवादियों को खूब प्रोत्साहित करता है। यहाँ तक कि अमेरिकी सरकार द्वारा मानवाधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता आदि विषयों पर जारी भारत-विरोधी रिपोर्टें अब उनके लिए हमारे मार्क्सवादी प्रोफेसर लिखने लगे हैं!

उदाहरण के लिए, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित सफदर हाशमी मेमोरियल ट्रस्ट (*सहमत*) के सक्रिय प्रचारक एवं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एसोसिएट प्रोफेसर कमल मित्र चिन्मय। इन्होंने गुजरात दंगों के बाद वाशिंगटन डी. सी. में 10 जून 2002 को वहाँ की सरकारी समिति 'यूनाइटेड स्टेट्स कमीशन ऑन इंटरनेशनल रिलीजस फ्रीडम' (यू.एस.सी.आई.आर.एफ.) के सामने भारत सरकार के खिलाफ मनमानी गवाही दी। उनके साथ अन्य गवाहों में तीस्ता सीतलवाड और

फादर सेड्रिक प्रकाश भी थे। इस कमीशन की सुनवाई का उद्देश्य ही था अमेरिका द्वारा भारत पर प्रतिबन्ध लगाने पर विचार करना। इस प्रकार अपने ही देश पर प्रतिबन्ध लगवाने के लिए हमारे स्वनामधन्य बुद्धिजीवी अमेरिकी सरकार को प्रेरित कर रहे थे! प्रोफेसर चिन्मय शायद ही अपने पैसे खर्च करके गवाही देने वाशिंगटन गए होंगे। किसने और क्यों इन लोगों की अमेरिका यात्रा का खर्च उठाया? इसका उत्तर हमारे पत्रकारों को ढूँढना चाहिए। बाद में यह खबर भी आई कि इन्हीं में से लोगों ने भारत में धार्मिक उत्पीड़न और भेद-भाव पर अमेरिकी सरकार का दस्तावेज भी तैयार किया।

ध्यान दें कि अमेरिकी लोग अपने देश से बाहर सदैव एक-जुट होकर काम करते हैं। अपने आपसी वैचारिक, राजनीतिक मतभेदों को देश की सीमा से बाहर नहीं ले जाते। *टाइम* और *न्यूजवीक* जैसी विख्यात पत्रिकाओं का स्वर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अमेरिकी विदेश विभाग के साथ बेजोड़ तालमेल रखता है। क्या किसी विदेशी सेमिनार आदि में अमेरिकी या ब्रिटिश बुद्धिजीवी आकर अपने देश की रंगभेद या ईराक नीति पर देश की छीछालेदर करते हैं? हमारे सेक्यूलर पत्रकारों, प्रचारकों को यह समझना भी शेष है, इससे सबक लेना तो दूर की बात। अनेक भारतीय पत्रकार, बुद्धिजीवी, सार्वजनिक संगठन आदि देश से बाहर भी अपनी संकीर्ण राजनीतिक डफली अलग बजाते रहते हैं। उन्हें राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान नहीं रहता, जब वे अपनी ही सरकार के विरुद्ध विदेशों में बयानबाजी करते हैं। अमेरिका और कनाडा में *सहमत* के प्रचार-अभियान या अरुंधती राय जैसों के भाषणों का अध्ययन करें। कोई भारत सरकार पर झूठे इल्जाम लगाकर, अमेरिकी आयोग के समक्ष भारत विरोधी गवाही देकर विदेशियों की आँखों में चढ़ना चाहता है, तो कोई खुद को 'ग्लोबल नागरिक' बताकर हर तरह की भारत-विरोधी भूमिका निभाने के लिए उपलब्ध होने का संकेत देता है। स्वभाविक है कि पूरी दुनिया को अपने 'हितों का क्षेत्र' मानने वाले अमेरिकी हमारे सेक्यूलर-वामपंथी बन्धुओं का खूब उपयोग करते हैं। हाल के वर्षों में इन पर हो रही विदेशी पुरस्कारों की बौछार को और किसी तरह समझना नामुमकिन है!

दुर्भाग्यवश हमारा सरकारी तंत्र और मीडिया अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, ज्ञात-अज्ञात फाउंडेशनों के राजनीतिक चरित्र व असल एजेंडे की अनदेखी करते हैं। हाल के वर्षों में उन संस्थाओं द्वारा हमारे कुछ खास बुद्धिजीवियों, एक्टिविस्टों, संगठनों को तरह-तरह के 'पीस एवार्ड', 'पीस फेलोशिप' से नवाजा गया है। किन्तु इन सबके बारे में हम ठीक से जानने की कोशिश भी नहीं करते। जिन्हें ऐसे पुरस्कार मिल रहे हैं, कृपया उनके बयानों, कारनामों, यात्राओं, अभियानों, साक्षात्कारों को एकत्र करें। इंटरनेट के सहारे यह बड़ी आसानी से कर सकते हैं। तब आप स्वयं वह पैटर्न पहचान सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद को छिन्न-भिन्न करना ही वह सूत्र है जिसके गिर्द

अनगिनत देशी-विदेशी संगठन, महानुभव कटिबद्ध हैं। यह कटिबद्धता कैसी है यह इसी से समझा जा सकता है कि जहाँ वे ज्ञात-अज्ञात, इस्लामी, मिशनरी दाता संगठनों और सरकारी संस्थानों के बुलावे पर जाकर सहर्ष अपना 'हिन्दू-फासिस्ट विरोधी' एवं 'देश विरोधी' प्रचार कर प्रसन्न होते हैं। इस देश विरोधी कार्य में उनके साथ कभी-कभी गाँधीवादी, लोहियावादी किस्म के लोग भी शामिल हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए, सितम्बर 2003 में विनोबा जी की उत्तराधिकारिणी कही जाने वाली सुश्री निर्मला देशपांडे अमेरिका यात्रा पर गई थीं। यह इनके जीवन की पहली अमेरिका यात्रा थी। इसके प्रायोजक थे एन.आर.आईज फॉर सेक्यूलर एंड हारमोनियस इण्डिया। वहाँ निर्मला जी अमेरिकी विदेश विभाग और यू.एस.सी.आई. आर.एफ. के पदाधिकारियों से भी मिलीं। उनसे इन्होंने शिकायत की कि "पिछले साल गुजरात के नरसंहार पर अमेरिका ने कड़ी प्रतिक्रिया नहीं जताई।" अर्थात् भारत सरकार को सजा नहीं दी। वस्तुतः निर्मला जी ने उस यात्रा में न्यूयॉर्क, बोस्टन, डेट्रॉयट, सान फ्रांसिस्को, लास एंजिलस, शिकागो और टोरंटो में घूम-घूम कर अपने देश की भरपूर निन्दा की। अमेरिकी भूमि पर कहे गए उनके कुछ बयानों पर ध्यान दें, "गुजरात में पीड़ितों के लिए कुछ नहीं किया गया। पीड़ितों के अपने प्रयासों को भी विफल किया गया। यहाँ तक कि आज भी सरकार न तो उनकी मदद कर रही है, न दूसरों को करने दे रही है। नब्बे फीसदी मामलों में प्राथमिकी दर्ज नहीं की गई। गुजरात सरकार ने सब सबूत मिटा दिए" आदि, आदि। निर्मला जी ने अमेरिका में भारतीय अमेरिकियों से यहाँ के 'उग्रवादी गुप्तों' (यानी हिन्दू संगठनों) को मदद न देने की अपील भी की। उन्होंने अमेरिकियों को यह भी बताया कि पाकिस्तानी संसद की स्थिति भारतीय संसद से अधिक अच्छी है! क्योंकि पाकिस्तान में 24 प्रतिशत महिला सांसद हैं जबकि भारत में 8 प्रतिशत। निर्मला जी ने पाकिस्तान के साथ बातचीत न करने के लिए भारत सरकार की आलोचना भी की। इस पूरे अभियान में निर्मला जी की यात्रा के प्रायोजक जॉन प्रभुदॉस और एन.आर.आईज फॉर सेक्यूलर एंड हारमोनियस इण्डिया के कोऑर्डिनेटर कलीम ख्वाजा उनके साथ बने रहे। प्रभुदॉस जी 'पॉलिसी इंस्टीट्यूट फॉर रिलीजन एंड स्टेट' के निदेशक हैं। क्या हम जान सकते हैं कि विशुद्ध ईसाई या इस्लामी उद्देश्यों में रुचि रखने वाले जॉन प्रभुदॉस और कलीम ख्वाजा में निर्मला जी की इस यात्रा को लेकर क्योंकि उत्साह था?

निर्मला जी ने अमेरिकियों को यह भी बताया कि क्यों इतने जुल्मों के बावजूद यहाँ सरकार (केन्द्र सरकार, गुजरात सरकार या दोनों?) बनी रही, गिरी नहीं। उनके शब्दों में, "क्योंकि सेक्यूलर आन्दोलन विभाजित था। हम लोगों के साथ काम कर रहे हैं और धीरे-धीरे लोग महसूस कर रहे हैं कि कुछ गड़बड़ है।" इस बयान में राजनीतिक उद्देश्य बिलकुल साफ था। कि सरकार गिरे, दूसरी बने। अपनी इस इच्छा के लिए निर्मला जी अमेरिका में भारत की छवि पर कालिख पोत रही थीं। यह कार्य

उन्हें भारत में करना था। अमेरिकी भूमि पर इस बयानबाजी में यह स्वतः स्पष्ट था कि निर्मला जी अपने देश की सरकार के विरुद्ध अभियान में अमेरिकी सहायता की अपेक्षा कर रही थीं! ऐसी आत्मसम्मान-हीनता अमेरिकी या यूरोपीय लोगों में कतई नहीं होती। वे देश की शिकायतें बाहर नहीं करते फिरते। (वैसे भी, जहाँ लोकतंत्र, स्वतंत्र प्रेस, न्याय-व्यवस्था और जीवन्त लोकमत मौजूद हो वहाँ सब समाधान के उपाय देश के अन्दर ही होते हैं। मगर दास मानसिकता की सिफत दूसरी है)। भारत-निन्दा के साथ-साथ निर्मला जी ने वहाँ पाकिस्तानी प्रवक्ता जैसे भाषण भी दिए। जैसे यह कि भारत सरकार अनुचित रूप से पाकिस्तान को जिहादी फंडामेंटलिस्ट समाज जैसा देखती है। उनके अनुसार, "पाकिस्तान तो पहल कर रहा है, मगर यह भारत है जो इस्लामाबाद के साथ संवाद नहीं कर रहा!"

भारत में निर्मला देशपांडे को राजनीतिक नेत्री के रूप में शायद ही देखा जाता है। लेकिन अमेरिका में वह भारत के किसी 'सेक्यूलर राजनीतिज्ञ' जैसे अन्दाज में बोल रही थीं। वहाँ अनजान अमेरिकी जनता के समक्ष ऐसी मिथ्या छवि देने की उन्हें क्या आवश्यकता थी? भारत में पीपुल-टु-पीपुल सम्पर्क के नाम पर बार-बार पाकिस्तान जाने और फिर बयान देने जैसे कार्य के साथ ही निर्मला जी का नाम यहाँ कभी-कभार सुना जाता है। अभी समाचार आया है कि गाँधी समाधि ट्रस्ट, जिसकी वह अध्यक्ष हैं, के धन से उन्होंने पाकिस्तानी मोहाजिर कौमी मूवमेंट के नेता को दिल्ली में एक पार्टी दी। इससे पहले वह यह कहकर खबरों में आई थीं कि "बाबरी मस्जिद को बम से उड़ाया गया था।" जिससे बाद में वे पलट भी गईं। लेकिन किसी राजनीतिक अभियान में उनका नाम कभी नहीं सुना गया। मगर अमेरिका में वे खुद को भारतीय राजनेता के रूप में प्रस्तुत कर रही थीं। किसलिए? क्या इसलिए कि उनकी यात्रा के प्रायोजक वहाँ ऐसे बयान देने वाले को महत्त्वपूर्ण राजनीतिक हस्ती के रूप में दिखाना चाहते थे? ताकि भारत सरकार की छवि को प्रमाणिक रूप से काला किया जा सके। ऐसे अभियानों और प्रायोजकों के पीछे कौन लोग हैं?

इन सवालों के जवाब साफ नहीं हैं। इसलिए नहीं कि जवाब खोजना मुश्किल है, बल्कि इसलिए कि सेक्यूलरिज्म की कसम खाए हमारे वरिष्ठ पत्रकार ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सामने नहीं लाना चाहते। इसके बावजूद धीरे-धीरे इतना हम जान चुके हैं कि अमेरिका, यूरोप घूमने, वहाँ भारत (सरकार) की निन्दा करने, यहाँ की काली तस्वीर खींचने और तरह-तरह के पुरस्कार पाने में एक तारतम्य है। ध्यान रहे इस तरह के अभियान ठीक वर्ष 1998 से तेज हुए जब वाजपेयी सरकार बनी। दूसरे शब्दों में, इस सरकार को हिन्दूवादी बताकर कलंकित करने का सुचिन्तित कार्यक्रम था। इसके लिए जब कोई तथ्य नहीं मिलते थे, तो उन्हें गढ़ा जाता था। डांग, झाबुआ, क्यौंझर आदि कांडों के सहारे (जिनमें कई तो 'कांड' भी नहीं थे) जिस तरह जान-बूझ कर हिन्दू-विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय वितंडा खड़ा किया गया वह बड़ी गम्भीरता से जाँचने,

परखने का विषय है। पिछले पाँच-छः सालों में कुछ भारतीय एक्टिविस्टों को विदेशों से जो पुरस्कार, निमंत्रण मिले और जिस बात के लिए मिले, उसमें एक सुनिश्चित पैटर्न झलकता है। भारतीय सरकार और समाज की काली तस्वीर खींचो, पाकिस्तान का बचाव करो, ईसाई मिशनरियों व इस्लामी संगठनों को मदद पहुँचाओ और इनाम लो! निर्मला जी को यह पता था या नहीं, मगर पैटर्न यही है। ऐसे गाँधीवादियों को देख कर गाँधी जी की आत्मा जरूर करवट ले रही होगी।

यह भारत-विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार परियोजना अदृश्य शक्तियों द्वारा परिचालित है। वे अलग-अलग, और भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से काम कर रहे हैं। मगर भारत को बदनाम, कमजोर, और हो सके तो तोड़ने के प्रयास में वे एक हैं। इसमें यहाँ के कुछ 'प्रतिष्ठित' लोगों, नामों का सच्चा-झूठा इस्तेमाल होता है। यदि वे प्रतिष्ठित न हों, तो उन्हें पुरस्कार, प्रचार आदि देकर प्रतिष्ठित बनाया जाता है। ताकि पश्चिम की अनजान जनता को भरोसा दिलाया जा सके कि भारत के लोग कितने अन्धकार और कष्ट में हैं। फिर इसका उपयोग यह होता है कि जॉन दयाल जैसे भारतीय एक्टिविस्ट व पत्रकार अपने गले में ऐसी इबारत लिखी तख्ती लगाकर पश्चिमी देशों में घूमते हैं कि "भारत में हिन्दुत्व दलितों, ईसाइयों, मुसलमानों के साथ बलात्कार करता है और उन्हें मारता है।" ऐसा झूठा प्रचार इसलिए भी किया जाता है ताकि पश्चिमी जनता, सरकारें, वित्तीय संगठन भारत में 'शान्ति लाने' और 'प्रकाश फैलाने' के लिए ईसाई मिशनरी संगठनों, प्रचारकों को भरपूर पैसा और अन्य सहयोग दें। विदेशों में इस भारत-विरोधी दुष्प्रचार में 'साउथ एसियन' संज्ञा-विशेषण वाले (परन्तु वस्तुतः इस्लामी, पाकिस्तानी वर्चस्व वाले) अनेक संगठनों का भी सक्रिय सहयोग रहता है। ताकि पश्चिमी नीति-निर्माताओं को प्रमाणिक रूप से आश्वस्त किया जा सके कि भारत में ऐसा कोई लोकतंत्र नहीं, जिसे पाकिस्तान से बेहतर समझें! ताकि पाकिस्तान के इस्लामी एजेंडे के प्रति पश्चिम की आँखों में धूल झोंकी जा सके। ताकि उसके प्रति अमेरिकी जनमत का रुख कड़ा न हो सके।

निर्मला जी या जॉन दयाल जी या सेड्रिक प्रकाश कोई अकेले उत्साही नहीं थे। कई उदाहरण सामने हैं। तीस्ता सीतलवाड, प्रफुल्ल बिदवई, अरुंधती राय, रिटायर्ड एडमिरल रामदास जैसे कई महानुभावों को पिछले पाँच-छः सालों में विभिन्न पश्चिमी संगठनों द्वारा अनेक पुरस्कार और निमंत्रण मिले। फलस्वरूप इन्होंने बारम्बार पाकिस्तान, अमेरिका, यूरोप की यात्राएँ की हैं। उन यात्राओं में इनके बयानों, और उससे निकलने वाले निष्कर्षों में अपूर्व समानता है। उतने ही बड़े-बड़े झूठ भी। एडमिरल रामदास 'पाकिस्तान इण्डिया पीपुल्स फोरम फॉर पीस एंड डेमोक्रेसी' के भारतीय शाखा के अध्यक्ष हैं। जनवरी 1997 में अंग्रेजी दैनिक *एशियन एज* ने लिखा था कि अमेरिकी नीति निर्माताओं ने कश्मीर के सम्बन्ध में एक घातक रणनीति बनाई है। इसमें भारत की उन एन.जी.ओ. संस्थाओं की सेवाएँ लेने पर ध्यान केन्द्रित किया गया जो

अमेरिकी कांग्रेस के समक्ष भारत विरोधी गवाहियाँ दे सकती हैं, जो कश्मीर के बारे में इच्छित सूचनाएँ जुटा सकती हैं और जो भारत सरकार पर दबाव डालने का एक साधन बन सकती हैं। *एशियन एज* के अनुसार ऐसा एक प्रमुख एन.जी.ओ. है 'पाकिस्तान-इण्डिया पीपुल्स फोरम फॉर पीस एंड डेमोक्रेसी'। इस फोरम की प्रमुख हस्तियों में तीस्ता सीतलवाड और एडमिरल रामदास हैं।

इन्होंने रामदास जी को 'वीमेंस एक्शन फॉर न्यू डायरेक्शंस' एवं 'इंस्टीट्यूट फॉर एनर्जी एंड एनवारयनमेंट' फरवरी 2002 में वाशिंगटन की यात्रा पर ले गए। वहाँ रामदास जी मानों पाकिस्तानी प्रवक्ता की तरह बयान दे रहे थे। उन्होंने कहा कि भारतीय सेना के पास "प्रभावशाली कमांड, संचार, सूचना-व्यवस्था आदि कुछ नहीं है।" तात्पर्य हुआ कि इसलिए नाभिकीय हथियारों के मामले में भारत पर भी भरोसा नहीं किया जा सकता। यानी पाकिस्तानी तानाशाही और भारतीय लोकतंत्र बराबर! साथ ही उन्होंने जेनरल मुशर्रफ की भूरि-भूरि प्रशंसा की। रामदास ने भारत पर यह आरोप भी लगाया कि भारत ने पाकिस्तान के 'नो-वार पैक्ट' प्रस्ताव को खारिज कर तनाव बढ़ाया है।

रामदास जी भारत से कश्मीर की 'आजादी' के भी खुले हिमायती हैं। 14-15 अप्रैल 2001 को नागपुर में 'द चर्च ऑफ नॉर्थ इंडिया' ने 'पाकिस्तान इण्डिया पीपुल्स फोरम फॉर पीस एंड डेमोक्रेसी' का भारतीय सम्मेलन कराया। उसमें भाग लेने वाले एक सज्जन पी.सी. देशमुख ने उसका विवरण दिया है। जिससे यह निष्कर्ष निकाले बिना नहीं रहा जा सकता कि यह तथाकथित फोरम वस्तुतः भारत में पाकिस्तानी दुष्प्रचार चलाने के लिए एक मुखौटा मात्र है। उस सम्मेलन में पाकिस्तान की आलोचना में उठने वाले हर स्वर को जबरन बन्द कराया गया। जबकि भारत के विरुद्ध जाने वाली हर तरह की बात कही गई। अगस्त 2003 में आपको और तीस्ता सीतलवाड को 'इंटरनेशनल काउंसिल ऑफ इवांजेलिकल चर्चज' नामक मिशनरी संगठन ने 'ग्राहम स्टेंस इंटरनेशनल अवार्ड फॉर रिलीजियस हार्मोनी' प्रदान किया था। इस संगठन और अवार्ड के नाम से ही सन्देश साफ है कि मजहबी सौहार्द के लिए आवश्यक है कि विदेशी ईसाई मिशनरियों को बिना किसी बाधा के धर्मान्तरण कराने दिया जाए। यदि कोई इस धर्मान्तरण कार्यक्रम को रोकता है, तो वह 'रिलीजियस हार्मोनी' बिगाड़ता है!

इसी प्रकार तीस्ता सीतलवाड की पत्रिका 'कम्युनलिज्म कॉम्बैट' (सबरंग कम्युनिकेशंस) जिसे सच कहें तो हिन्दू कॉम्बैट कहा जाना चाहिए, ने एक बार लोक सभा चुनाव में प्रचार अभियान चलाया था। यह सितम्बर 1999 की बात है जब एन. जी.ओ. के एक पूरे समूह ने देश के बड़े-बड़े अखबारों में पूरे पेज के कई विज्ञापन छपवाए। इनमें भाजपा को महिलाओं और अल्पसंख्यकों का दुश्मन बताया गया था। इन विज्ञापनों में करीब 75 लाख रुपए खर्च हुए थे। तब बात उठी कि इन एन.जी.



ओ. में कई ने विदेशों से अनुदान लेने के लिए अपना रजिस्ट्रेशन करवाया हुआ था। अर्थात् इन विज्ञापनों में विदेशी धन का उपयोग किया गया जो भारत की विदेशी मुद्रा विनियम एक्ट की धारा 5(1) का उल्लंघन था। यह धारा विदेशी अनुदान लेने वाले संगठनों को राजनीतिक कार्यकलाप से रोकती है। जब विज्ञापन अभियान की प्रमुख संचालक तीस्ता जी से *इण्डियन एक्सप्रेस* ने इस पर पूछा तो उनका उत्तर था कि सारा खर्च उनकी पत्रिका 'कम्युनलिज्म कॉम्बैट' ने उठाया है, जो भारतीय स्रोतों से जुटाया गया। लेकिन इन्हीं तीस्ता जी ने *इण्डिया टुडे* को बताया कि यह धन विभिन्न एन. जी.ओ. के सहयोग से इकट्ठा किया गया था। धन कहाँ से आया स्पष्ट नहीं हुआ पर हमारे मीडिया में ऐसे कारनामों पर कोई आक्रोश नहीं उपजता।

जुलाई 2000 में तीस्ता जी के सबरंग कम्युनिकेशंस ने एक और लाक्षणिक अभियान चलाया। विश्व हिन्दू परिषद (वि.हि.प.) ने संयुक्त राष्ट्र के समक्ष विमर्शी स्वयंसेवी संगठन की मान्यता प्राप्त करने के लिए आवेदन किया था। सबरंग ने दुनिया भर के लोगों से अपील की कि वे संयुक्त राष्ट्र को धुआँधार विरोध-पत्र भेज कर वि.हि.प. को यह मान्यता मिलने से रोकें। क्योंकि यह वह संगठन है जो अन्य अपराधों के अलावा 'पिछले दो सालों से ईसाइयों के विरुद्ध घृणा अभियान चला रहा है।' सबरंग ने वि.हि.प. के विरुद्ध आपत्ति करने के लिए पाकिस्तान को धन्यवाद भी दिया। पाकिस्तान के साथ तीस्ता जी की यह हिन्दू-विरोधी एकता बड़ी लाक्षणिक थी। शिक्षा-प्रद भी। उचित यह था कि तीस्ता जी अपना वि.हि.प. विरोधी अभियान भारत में ही चलातीं।

सबरंग की वेबसाइट पर 'पाकिस्तान-इण्डिया पीपुल्स फोरम' का लोगो (प्रतीक चिह्न) भी तीस्ता जी का एक लाक्षणिक बयान ही था। उसमें पाकिस्तान और भारत का ऐसा नक्शा बनाया गया था, जिसमें दोनों देशों के क्षेत्रफल लगभग बराबर बना दिए गए थे। कैसे? वह ऐसे कि पूरे जम्मू-कश्मीर को पाकिस्तान का अंग दिखाया गया था और सम्पूर्ण उत्तर-पूर्वी भारत को गायब कर दिया गया था। जब सुप्रसिद्ध स्तम्भ-लेखिका वर्षा भोसले ने नवम्बर 2002 में रिडिफ वेबसाइट पर अपने लेख में इसे भारत को तोड़ने की खाहिश का प्रतीक बताया तो सबरंग ने साइट से वह लोगो हटा लिया। शायद लोगो तीस्ता जी की महत्वाकांक्षा के बारे में कुछ ज्यादा ही कह रहा था!

जब फरवरी 2002 में गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस में अयोध्या से लौट रहे 59 हिन्दू जल कर मरे थे, तो तीस्ता जी ने अमेरिकी पत्र *वाशिंगटन पोस्ट* को यह जोरदार बयान दिया : "आप किसी घटना को अलग करके नहीं देख सकते। उसके लिए दिए भड़कावे को नहीं भूलना चाहिए। ये (जलाए गए) लोग किसी सद्भावपूर्ण सभा में नहीं गए थे। वे तो मन्दिर बनाने के लिए अवैध लामबन्दी में लगे थे और उन्होंने जानबूझ कर भारत के मुसलमानों को भड़काया।" ध्यान रहे, यह बयान उस कांड वाले दिन

ही आ गया था, जब प्रतिक्रियात्मक दंगे शुरू नहीं हुए थे। तीस्ता जी गोधरा की नृशंसता को स्वाभाविक बताते हुए कह रही थीं कि जल कर मरे हिन्दू ही दोषी थे! इसीलिए उन्होंने अपने बयान में यह झूठ भी जोड़ा कि वे सभी हिन्दू मृतकस्त्रियों, बच्चों समेत सामान्य तीर्थयात्री नहीं, वरन् एक्टिविस्ट थे।

अपने ऐसे ही कारनामों से तीस्ता जी इस्लामी, ईसाई मिशनरी संगठनों के बीच लोकप्रिय हुई हैं। सन् 2001 में कैथोलिक चर्च द्वारा इन्हें 'पैक्स क्रिस्टी इंटरनेशनल पीस प्राइज' से पुरस्कृत किया गया। पैक्स क्रिस्टी नाम से ही स्पष्ट है : पीस ऑफ क्राइस्ट। यह संस्था खुले तौर पर चर्च की सहायता के लिए बनी है, जो केवल ईसाइयत द्वारा शान्ति का दावा करती है। तीस्ता जी को यह पुरस्कार देने का कारण बताया गया कि इन्होंने 1993 के बम्बई दंगों में पुलिस के मुस्लिम विरोधी पूर्वग्रह को उजागर किया था। यह भी कि उन्होंने पाकिस्तान-भारत (भारत-पाकिस्तान नहीं) संवाद बढ़ाने में खूब प्रयास किए। पैक्स क्रिस्टी ने तीस्ता जी को हिन्दुत्व की जानकार और इस विषय पर पुस्तक-लेखिका भी बताया! यह वही तीस्ता हैं जो गुजरात दंगों से सम्बन्धित बेस्ट बेकरी मामले में विवादों के घेरे में हैं। अब तीस्ता जी के इन कामों की जाँच सुप्रीम कोर्ट के रजिस्ट्रार जनरल कर रहे हैं। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि पूरी दुनिया में भारतीय न्याय व्यवस्था, भारत की सरकार की भरपूर बदनामी की जा चुकी! उद्देश्य पूरा हो चुका है।

अरुंधती राय भी इसी तरह की हस्ती हैं। उन्हें अमेरिकी लेन्गान फाउंडेशन ने यह कह कर पुरस्कृत किया कि वह बड़ी बहादुरी से भारत की जुल्मी सत्ता से लड़ रही हैं। अरुंधती घोषित रूप से कहती हैं कि वह भारत की नागरिक नहीं वरन् 'ग्लोबल सिटीजन' हैं। जैसा ऊपर उद्धृत है, उनके शब्दों में, "राष्ट्रीय झंडा कपड़े का टुकड़ा मात्र है, जो दिमाग को तंग बनाता है, और मुर्दों को लपेटने के काम आता है।" यह और बात है कि अरुंधती जी भारत भूमि की सारी सुविधाएँ उठाती हैं (यहाँ तक कि वन्य कानूनों का उल्लंघन करके उन्होंने पंचमढी के संरक्षित वन प्रदेश में अपना खूबसूरत बंगला बनवाया। होशंगाबाद जिला प्रशासन के अनुसार उन्होंने अनियमित तरीके से जमीन लेकर अवैध बंगले बनाए। इस आरोप को मध्य प्रदेश हाई कोर्ट ने भी सही पाया और अरुंधती जी अपील खारिज कर दी।) यही अरुंधती जी भारत में मुसलमानों के लिए जीवन 'भयंकर' बताती हैं। भारत के परमाणु परीक्षणों को दुनिया के लिए खतरा दिखाती हैं।

अरुंधती राय के लेखन का एक नजारा देखें। उन्होंने अंग्रेजी साप्ताहिक *आउटलुक* (6 मई 2002) में गुजरात दंगे पर एक लेख लिखा। उसका एक अंश इस प्रकार था : "...एक भीड़ ने पूर्व कांग्रेस सांसद एहसान जाफरी के घर को घेर लिया। भीड़ उनके घर में घुस गई। उन लोगों ने जाफरी की बेटियों को निर्वस्त्र किया। फिर जिन्दा जला दिया..." ऐसा भयानक झूठ पढ़कर जाफरी के पुत्र टी.ए. जाफरी

अचम्भित रह गए। उन्होंने दैनिक *एशियन एज* (2 मई 2002) में पत्र लिखा, “अपने तमाम भाई-बहनों में केवल मैं भारत में रहता हूँ। मेरी सभी बहनें और भाई अमेरिका में रहते हैं और सकुशल हैं।” लेकिन सच सामने आने पर अरुंधती राय ने पाठकों या जनता से क्षमा नहीं माँगी। उल्टे क्रोधित होकर अपने आलोचकों को फटकारा। एक बार पुनः ध्यान दें, वह झूठा विवरण पूरी दुनिया में फैल चुका। उसके बारे में लाखों विदेशियों को यह कभी मालूम नहीं होगा कि वह विवरण मनगढ़ंत कल्पना थी। यानी हानि हो चुकी, कालिख पोती जा चुकी।

अगस्त 2002 में अरुंधती राय पाकिस्तान की यात्रा पर गई थीं। उनके साथ भारत के दो बड़े अंग्रेजी अखबारों *इण्डियन एक्सप्रेस* और *द हिन्दू* के सम्पादक क्रमशः शेखर गुप्ता और एन. राम भी थे। यह सभी एक पाकिस्तानी अखबार के निमंत्रण पर वहाँ गए थे। वहाँ इन्होंने लाहौर, कराची और इस्लामाबाद में अपने भाषणों, सेमिनारों और इंटरव्यू में जो-जो बातें कहींकाश! वह हरेक भारतीय पाठक पूरा-पूरा पढ़-सुन पाता। उनके बयानों के केवल सीधे-सरल अर्थों से हमारे सेक्यूलर-वामपंथी बुद्धिजीवियों के अहंकार, उनके हिन्दू-विरोध, जो अनिवार्यतः जाने-अनजाने भारत-विरोध में बदल जाता है और राजनीतिक मनोविज्ञान पर पूरी किताब लिखी जा सकती है। उक्त सम्पादक-द्वय की सभी मुख्य बातें उनके अपने ही शब्दों में निम्नलिखित हैं। वह बातें जो दोनों ने पाकिस्तानी श्रोताओं के सामने और प्रेस इंटरव्यू में बार-बार दुहराई :

(1) “भारत में भाजपा सरकार ने परमाणु नीति का अपहरण कर लिया और पाकिस्तान को भी विवश होकर उसी नीति पर चलना पड़ा”; (2) “यदि भारत में मुलसमान खुश हैं, तो यही हमारे सेक्यूलरिज्म का सबसे बढ़िया सर्टिफिकेट है”; (3) “कारगिल के बाद भाजपा के नेता मूर्खों की तरह दिख रहे थे, सोनिया गाँधी ने उन्हें उबारा”; (4) “भारत का एक-एक मुसलमान देशभक्त है और इसीलिए गुजरात में जो हुआ उस पर हमें बहुत तीखा एतराज है”; (5) “जब भाजपा सत्ता में होती है तो दंगे नहीं होते। यह पहली बार हुआ जब भाजपा सरकार [गुजरात] ने दंगों को राजनीति का औजार बनाया”; (6) “भारत की वर्तमान सरकार अन्ध-राष्ट्रवादी है जिससे भारत और पड़ोसी देशों को खतरा है”; (7) “भारत को 1971 की स्थिति का फायदा नहीं उठाना चाहिए था (बंगलादेश बनाने में सहयोग नहीं करना चाहिए था)”; (8) “भारत सरकार को 13 दिसम्बर (भारतीय संसद पर आतंकवादी हमले) की आड़ में युद्ध की धमकी नहीं देनी चाहिए थी”; (9) “हमारा रक्षा मंत्री जार्ज फर्नांडिस सन्देहास्पद चरित्र का, अवसरवादी, अन्धराष्ट्रवादी नजरिए का आदमी है”; (10) “हम कश्मीर पर पाकिस्तान की स्थिति को समझते हैं। हालात सुधर सकते हैं, मगर इसमें सबसे बड़ा रोड़ा भारत की सत्ताधारी शक्तियाँ हैं। कश्मीर को (भारत द्वारा) पूरी-पूरी स्वायत्तता दी जानी चाहिए”; (11) “भाजपा-आर.एस.एस. ने बाबरी मस्जिद को तो तोड़ा ही, उसके मस्जिद होने तक पर सवाल उठाया”; (12) “हिन्दू दक्षिणपंथी नए किस्म के दक्षिणपंथी हैं जो

भारत के 14 करोड़ मुसलमानों और दो प्रतिशत ईसाइयों को निशाना बनाते हैं। ये साधारण दक्षिणपंथ से अलग और कैंसरनुमा घातक हैं क्योंकि इनमें एक साम्प्रदायिक फासिस्ट आया है”; (13) “1993 में बम्बई बम-विस्फोटों के लिए आई.एस.आई. पर आरोप लगाया गया, जबकि यह हिन्दू दक्षिणपंथियों का बनाया हुआ था”; (14) “भारत-पाक सम्बन्ध सुधारने के लिए आगरा में भारतीय नेताओं ने मौका चूका”।

उपर्युक्त तमाम कथन पाकिस्तान के प्रमुख अखबारों *डेली टाइम्स* (16 अगस्त 2002), *डॉन* (16 और 19 अगस्त 2002), *द न्यूज ऑन सडे* (25 अगस्त एवं 1 सितम्बर 2002) से उद्धृत किए गए हैं। पाठक यह न समझें कि वहाँ कही केवल कुछ बातों को चुन कर पेश किया जा रहा है। जी नहीं, इन बातों के अलावा वस्तुतः कोई अन्य महत्वपूर्ण बात सम्पूर्ण रिपोर्ट या इंटरव्यू में नहीं मिलेगी। इन बातों में कितना अहंकार, भारतीय जनता की समझ के प्रति कैसी उपेक्षा, सच और झूठ के प्रति कैसा समभाव, राष्ट्रीय हितों का कितना निरादर, लोकतांत्रिक प्रक्रिया के प्रति कैसी अजीब उदासीनता झलकती है इन बातों को अभी छोड़ दें।

उक्त सम्पादकों के तमाम भाषणों में सबसे मार्के की चीज यह है कि उसमें कहीं किसी ऐसे विषय का जिक्र नहीं हुआ, जिससे पाकिस्तान की आलोचना होती हो। पाकिस्तानी सरकार, वहाँ की फौज, जिहादी या आतंकवादी संगठन किसी की भी। क्योंकि पिछले एक साल में जो उथल-पुथल पाकिस्तान और उससे बहुत गहरे जुड़े पड़ोस में हुई, जो तब भी जारी थी उस विषय की कोई चर्चा हमारे सम्पादकों ने नहीं की। वह भी तब जबकि वह विषय अन्तर्राष्ट्रीय मीडिया में छाए हुए थे। ऐसा लगता है मानों हमारे यह बुद्धिजीवी सिर्फ ‘हिन्दू फासीवाद’, भाजपा और भारत सरकार की निन्दा और छीछालेदर करने पाकिस्तान बुलाए गए थे। अन्यथा कोई कारण नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय, इस्लामी आतंकवाद, अल कायदा, लश्करे-तोयबा, कुख्यात मदरसों की गतिविधियाँ, उन पर नियंत्रण करने का स्वयं पाकिस्तानी सरकार का सच्चा-झूठा अभियान, पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही आदि जैसे सामयिक विषय छुए भी नहीं गए। वहाँ के अन्दरूनी मामलों पर चर्चा न करने का तर्क भी नहीं दिया जा सकता। क्योंकि जिन बातों पर ये लोग बार-बार अहंकार से बोलते रहे और पाकिस्तानी पत्रकार उन्हें उकसाते रहे, वे सभी भारत के अन्दरूनी मामले ही तो थे। जैसे, भाजपा, संघ परिवार, गुजरात, सेक्यूलरिज्म आदि। पूरे मामले का एकतरफापन चिन्तनीय है।

सबसे कट्टर ‘सेकुलर’ भारतीय पत्रकारों में प्रफुल्ल बिदवई का स्थान भी पहली पंक्ति में आता है। आप पाकिस्तानी पाठकों और दुनिया को बरसों से लगातार बताते रहे हैं कि किस तरह भारत के मुसलमान और ईसाई हिन्दू फासिज्म के तले कराह रहे हैं। ऐसे लेखन को पाकिस्तानी सत्ता और इस्लामी जिहादी मुस्लिम जनता में भारत विरोधी मानसिकता बनाए रखने और अपनी करतूतों को जायज ठहराने के लिए जमकर इस्तेमाल करते हैं। बिदवई और उनके सहयोगी पत्रकार अचिन विनायक को

भी 'इंटरनेशनल पीस ब्यूरो' द्वारा सन् 2000 में सीन मैक्ब्राइड प्राइज से नवाजा गया। आप दोनों ट्रांसनेशनल इंस्टीट्यूट, एमस्टर्डम के भी फेलो हैं। इंस्टीट्यूट का नाम बड़ा ही सार्थक है, जो किसी को भी राष्ट्र से ऊपर उठकर सोचने की प्रेरणा दे सकता है। 1998 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण करने के बाद भारत के जो मार्क्सवादी उग्र और आक्रामक रूप से परमाणु विरोधी हो गए, उनमें बिदवई और विनायक अग्रगण्य हैं। ध्यान देने योग्य है कि इससे पहले चीन द्वारा असंख्य परमाणु परीक्षणों पर भी हमारे किसी मार्क्सवादी को उससे विश्व शान्ति को कोई खतरा नहीं दिखा था। बल्कि वे सोवियत संघ और चीन की आक्रामक परमाणु क्षमता को अपने लिए गर्व का विषय मानते आए थे। यानी ऐसे देशों की क्षमताजिन्होंने चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, हंगरी, अफगानिस्तान, वियतनाम आदि पड़ोसी देशों पर बाकायदा सैन्य हमला या हिंसक हस्तक्षेप किया थाएसे देशों के परमाणु परीक्षण हमारे वामपंथियों को कभी चिन्ताजनक नहीं लगे। चीन द्वारा पाकिस्तान, नार्थ कोरिया को परमाणु एवं मिसाइल देने पर उन्हें कोई एतराज नहीं है। किन्तु भारत जैसे शान्तिप्रिय, लगभग भीरु माने जाने वाले देश द्वारा परीक्षण करते ही मानो इन्हें बिजली का करंट लग गया! वही वामपंथी अब जिहादी रूप में परमाणु विरोधी हो उठे, और भारत सरकार के विरुद्ध हर सम्भव प्रचार में लग उठे। इसी का नतीजा थी बिदवई, विनायक जैसों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि, दुनिया के कोने-कोने में 'पीस एक्टिविस्ट' के रूप में उनका नया नामकरण, उनकी अन्तहीन विदेश यात्राएँ, पुरस्कार और अनगिनत विदेशी संगठनों द्वारा उनकी प्रचार पुस्तिकाओं का प्रकाशन। इन पुरस्कारों के प्रति बिदवई निरपेक्ष नहीं थे। सीन मैक्ब्राइड प्राइज लेते हुए उन्होंने कहा भी कि इससे "परमाणु प्रसार के विरुद्ध हमारे संघर्ष को वैधता मिलेगी।" दूसरे शब्दों में, भारतीय परमाणु क्षमता के विरुद्ध बिदवई के अभियान को 'वैधता' मिलने के लिए वैसे विदेशी पुरस्कार आवश्यक हैं!

पिछले वर्षों में भारत के बारे में एक काल्पनिक, झूठी तस्वीर बनाने में सबसे अधिक काम सफदर हाशमी मेमोरियल ट्रस्ट के प्रचारकों ने किया है। *सहमत* की नैतिकता में भी देशभक्ति का कोई स्थान नहीं। वह केन्द्र सरकार से अनुदान लेकर भी विदेशों में भारत की बदनामी करना अपना अधिकार समझती है। इसने जून-सितम्बर 2000 में कनाडा में 'गाँधीजी की जयन्ती' मनाने के नाम पर भारतीय विदेश मंत्रालय से पैसे लिए, लेकिन वहाँ जो प्रदर्शनी लगाई उसमें केवल भारत-निन्दा थी कि यहाँ सरकार में प्रभावी हिन्दुत्ववादियों ने अभिव्यक्ति स्वतंत्रता और सेक्यूलरिज्म पर हमला बोल दिया है, ईसाइयों, मुसलमानों को तंग किया जा रहा है, आदि। विदेशों में भारत को बदनाम करना *सहमत* का शौक रहा है। गोधरा कांड के बाद 2002 की गर्मियों में *सहमत* की सचिव शबनम हाशमी ने संयुक्त राज्य अमेरिका में दो महीने तक घूम-घूमकर प्रचार किया कि गोधरा में '59 हिन्दू एक्टिविस्टों' को जलाने का षड्यंत्र हिन्दू उग्रवादियों का था जबकि इसके लिए मुस्लिमों को जिम्मेदार ठहराया गया!

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए हाशमी ने गोधरा कांड की तुलना सन् 1933 में राईखस्टाग (जर्मन संसद) को जलाए जाने से की। जैसा सब जानते हैं, राईखस्टाग को हिटलर ने जलवाया था, जबकि इल्जाम दूसरों पर लगाया। राईखस्टाग के उदाहरण से शबनम हाशमी ने अमेरिकियों को समझाया कि गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस के डिब्बे हिन्दुत्ववादियों ने जलाए, और इल्जाम मुसलमानों पर लगाया! जैसे ही यह खबर आई, वैसे ही समाचार चैनलों पर शबनम जी ने इसका श्रेय लेने में कोई कोताही नहीं की। उनके अनुसार, "हम लोग लगातार इसके लिए अभियान चला रहे थे।" भारतवासियों को इस अभियान की पूरी सच्चाई मालूम नहीं है, जिसमें देश और स्थान देखकर तरह-तरह के झूठ चलाए गए। प्रश्न यह है कि यह अभियान क्या देश में ही चलाना तथा देशवासियों को सच्चाई से अवगत कराना क्या पर्याप्त नहीं था?

कुछ समय से भारतीय विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, अकादमिक संस्थाओं आदि में 'पीस स्टडीज' नामक विषय को फैलाने का प्रयास किया जा रहा है। किन्तु कोई भ्रम न रहे। यहाँ 'पीस' को केवल जॉर्ज आर्वेल वाली भाषा में ही समझा जा सकता है। इस 'पीस' का शान्ति से कोई लेना-देना नहीं। यह तो किन्हीं घातक उद्देश्य को छिपाने के लिए सुन्दर शाब्दिक ओट है। ऐसे 'पीस स्टडीज' में शीर्षक के बाद लेखकों-वक्ताओं द्वारा कही बातें पढ़ते, सुनते ही उसकी भारतीय विशेषकर राजनीतिक अन्तर्वस्तु साफ हो जाती है। इनमें प्रायः दलितों की चिन्ता होती है, जिन्हें नियमतः किन्हीं ब्राह्मणों, सवर्णों द्वारा त्रस्त किया जाता मान लिया जाता है (इसके प्रमाण देने या अनुपात बोध की कोई फिक्र नहीं की जाती)। किन्तु दुनिया में चहुँओर इस्लामी आतंकवाद से पीड़ित लोग इस पीस स्टडीज की चिन्ता नहीं बनते। न ही भारत के अनेक हिस्सों में ईसाई धर्मान्तरण योजनाओं से पैदा होने वाली अशान्ति इन पीस स्टडीज में कभी शामिल की जाती है। भारत में दलित चिन्ता वाली हरेक रैली, अभियान या प्रकाशन में ईसाई मिशनरी नेता चुस्ती से स्वयं मौजूद दिखते हैं। इस पूरी प्रक्रिया के पीछे छिपी मंशा को कोई भी पहचान सकता है कि बहुल जाति को हर तरह से तोड़ने, आपसी विद्वेष भरने और दुश्मनों के प्रति गाफिल बनाए रखने का प्रयास ही यहाँ पीस स्टडीज, पीस फेलोशिप, पीस प्राइज के असल सरोकार हैं।

यह संयोग नहीं कि तीस्ता सीतलवाड भारत के 'विदेशी मुद्रा विनियम एक्ट' (एफ.सी.आर.ए.) को खत्म करने की माँग करती हैं। अर्थात् वे हर तरह के विदेशी स्रोतों, सन्दिग्ध संगठनों, सरकारों से धन लेने, और उसका स्वेच्छानुसार उपयोग करने का स्वच्छन्द अधिकार चाहती हैं। इस चाह में वे अकेली नहीं। कम से कम भारत की दो सौ पचास एन.जी.ओ. की पैरोकार संस्था वी.ए.एन.आई. भी यही चाहती है। ऊपर हमने केवल कुछ महानुभावों, संगठनों के उन क्रियाकलापों का जायजा लिया जो बार-बार सामने आते रहे हैं। किन्तु प्रश्न है कि ऐसे लोग जो भारत सरकार, सुरक्षा बलों आदि से हर तरह की पारदर्शिता की माँग करते हैं, वे स्वयं अपने खातों,

गतिविधियों और विदेशी दाताओं का हिसाब देने से क्यों बचना चाहते हैं?

वस्तुतः हमारे देश में सेक्यूलरिज्म, शान्ति, प्रगति, दलित सहानुभूति, परमाणु हथियार विरोध आदि नारों के गिर्द सक्रिय अनेक महानुभावों के क्रिया-कलापों का विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे भारत के मूलभूत हितों पर चोट करते हैं। देश की राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं को देश में ही उठाने से वे सन्तुष्ट नहीं हैं। इसी कारण उनकी सहायता के लिए कई विदेशी सरकारी, गैर-सरकारी संगठन प्रस्तुत रहते हैं। हमारे सेक्यूलर महानुभाव अपने व्यवहार में भारत के अन्दर इस्लामी या ईसाई मिशनरी दस्तों के प्रबल पैरोकार का काम करते हैं क्योंकि वह केवल 'हिन्दुत्व' सम्बन्धित संस्थाओं से ही देश को खतरा मानते हैं। उनके तमाम बयानों, गतिविधियों से यही निष्कर्ष निकलता है। वे ईसाई मिशनरी संस्थाओं एवं इस्लामी उग्रवाद का हर तरह से बचाव करते हैं, पाकिस्तान की तरफ से तरह-तरह के तर्क गढ़ने का काम करते हैं; कश्मीर को भारत का अंग मानने से खुला या छिपा इंकार करते हैं; हर तरह की हिन्दू अभिव्यक्ति के विरुद्ध विषवमन करते हैं; भारतीय सरकारी संस्थाओं, सुरक्षा बलों, पुलिस आदि पर कालिख पोतने का निरन्तर प्रयास करते हैं; भारत के बाहर पश्चिमी देशों में जाकर वे भारत-विरोधी जिहादी बन जाते हैं; यहाँ तक कि वे विदेशों में खुद को भारतीय के बजाए 'साउथ एशियन' कहते हैं; इसके लिए किसी शोध की जरूरत भी नहीं कि इन संस्थाओं का अपना विश्व-धर्मान्तरणकारी एजेंडा है जिसके तहत वे हर संस्था, संगठन या विचार को लांछित करने में अपना हित देखती हैं। जानी-अनजानी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का सहयोग लेने को उत्सुक प्रवृत्ति में हमारे ऐसे बुद्धिजीवी लोभी सरीखे लगते हैं। यह सम्भव है कि उनमें से कई सचेत रूप से देशविरोधी न हों। किन्तु सन् 1192 में पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध विदेशी आक्रमणकारी शहाबुद्दीन गोरी की मदद करते हुए क्या राजा जयचन्द ने भी सोचा था कि वह पूरी भारत-भूमि को पददलन के लिए सौंप रहा है? सम्भवतः बात यह थी कि उसने मात्र अपने सम्बन्धी पृथ्वीराज से बदला लेने के लिए ही गोरी की मदद की थी। किन्तु शहाबुद्दीन गोरी का एजेंडा तो वह नहीं था! राजनीति में उद्देश्य और परिणाम से अलग करके साधन और मोर्चेबन्दी का मूल्यांकन नहीं हो सकता। अतएव विदेशी, शक्तियों से साँठ-गाँठ में हमारे सेक्यूलर-वामपंथियों का जो भी निजी मनभावन विचार हो, अपने लक्ष्य व परिणाम में यह भारत के मूलभूत हितों, यहाँ तक कि इसके अस्तित्व के विरुद्ध घातक सिद्ध हो सकते हैं!

यह बात गम्भीरता से समझने, या कम से कम जाँचने-परखने की है कि ऐसे लोगों की और संस्थाओं की अन्तर्राष्ट्रीय मीडिया-उपस्थिति उनकी किसी समाज-सेवा या तरह-तरह के बयान देने से नहीं बनी। सच यह है कि यदि उनके आग्रह पोलिटिकली करेक्ट, अर्थात् इस्लाम-परस्त, ईसाइयत-परस्त व देशविरोधी न होते, तो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार न मिला होता। न ही विदेशी वजीफे, पुरस्कार मिले होते।

उनके कार्य-विचारों में इन तत्त्वों की मौजूदगी से उन्हें दुनिया में प्रसिद्धि मिली या दिलाई जा रही है। यदि अरुंधती राय के आग्रह कुछ और होते उदाहरण के लिए, यदि वह निर्मल वर्मा, अरुण शौरी अथवा वी.एस. नायपॉल जैसे विद्वानों, चिन्तकों के विचारों से मेल खाते तो अभी वह जितने हैं उससे सौ गुनी गुणवत्ता होने पर भी उनको अन्तर्राष्ट्रीय मीडिया और प्रचारक वर्ग कोई प्रश्रय न देता। न वे पाकिस्तान में लोकप्रिय होतीं। न जानी-अनजानी विदेशी संस्थाएँ व एजेंसियाँ उन्हें पुरस्कृत करने में लगी होतीं। यह बात स्पष्ट समझी जानी चाहिए। यह विचित्र दुष्क्र है। पश्चिमी लोग राय, सीतलवाड, दयाल, हबीब जैसों की लफ्फाजी के आधार पर ही भारत की एक काली तस्वीर बनाते हैं। लेक्चर देने के लिए अमरीकी विश्वविद्यालयों में निर्मात्रित करते हैं। इन पुरस्कारों, निर्मात्रणों से ऐसे लफ्फाजों को देश-विदेश में प्रतिष्ठा तो मिलती ही है, प्रोत्साहन भी खूब मिलता है। वह दुगने जोश से भारत-निन्दा में लग कर 'विश्व-नागरिक' बन जाते हैं। इस प्रक्रिया के बारे में जिन्हें सन्देह हो, वे केवल इस पर आगे नजर रखें कि किसे, कौन, किस बात के लिए, पुरस्कृत या निर्मात्रित कर रहा है। उन्हें सोचना चाहिए कि सेकुलर प्रोग्रेसिव, या आधुनिक बनने के लिए देश, भारतीयता या हिन्दू धर्म की निन्दा एक आवश्यकता है। तो क्यों? क्योंकि उसमें उसके देश के प्रति और उसकी संस्थाओं के प्रति सम्मान है। सर्वोपरि उसमें अपने प्रति भी सम्मान है और वह अपने आपको बिकाऊ नहीं समझता?

दुर्योगवश भारतीयों में पर-धर्म, पर-दृष्टि, पर-कर्म आदि को गम्भीरतापूर्वक जानने, समझने की इच्छा नहीं रही है। दूसरी सभ्यताओं की विचारणा और रणनीति-कूटनीति का अध्ययन न करने की कमी हममें सदैव रही है। भारतीय स्वभाव से ही अपने स्वधर्म पर ध्यान देता है। वह इसे इतना महत्त्व देता है परायों के कटिबद्ध अधर्म को भी पहचानने से चूक जाता है। इसलिए भी इतिहास में हिन्दू बार-बार पिटते रहे हैं। यह कमी आज भी देखी जा सकती है, जब तरह-तरह के वैचारिक, आध्यात्मिक, सैनिक आक्रमणकारियों, सीमापार से आतंकवाद के सूत्रधारों, संगठित धर्मान्तरण का खुला आवाहन करने वाले मिशनरी नेताओं आदि का भी हम विगलित हो स्वागत करते हैं। देश के शत्रुओं के साथ हिल-मिल कर राजनीतिक प्रचार करने वालों को भी बुद्धिजीवी, विद्वान मान कर देश के केन्द्रीय आयोगों, समितियों में ऊँचा स्थान देते हैं। यदि समय रहते भारतवासियों का, यह दृष्टिदोष दूर न हुआ तो फिर भयंकर अनिष्ट हो सकता है। आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी उन्नति, सांस्कृतिक श्रेष्ठता जैसे तमाम गुण देश की सुरक्षा, स्वतंत्रता, स्वाधीनता की कोई गारंटी नहीं हैयह भारत के पिछले हजार साल का इतिहास प्रमाणिक रूप से दिखाता रहा है।

## डॉ. देवराज के आलोचना-दर्शन का सांस्कृतिक आधार

डॉ. कुमार विमल\*

सर्चाई यह है कि समन्वयवादियों की तरह देवराज ने अतीत और वर्तमान तथा परम्परा और आधुनिकता के सम्बन्ध में अपनी धारणा को सन्तुलित बनाने की चेष्टा की है। इनकी दृष्टि में 'अतीत से व्यतिरिक्त' मानव-जीवन के वर्तमान का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार ये 'कालातीतवादी' (क्लासिसिस्ट) विचारकों की तरह अतीत को पर्याप्त महत्त्व देते हैं और स्वीकारते हैं कि 'अतीत का सांस्कृतिक वैभव' हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति एवं शक्ति है। सम्भवतः इसी कारण ये 'क्लासिक्स' के अध्ययन को आवश्यक मानते हैं और युंग के 'आर्किटाइप' तथा 'आद्य बिम्ब' (Primordial image) की तरह 'अतीत की सांस्कृतिक धरोहर' के महत्त्व को बारम्बार दुहराते हैं। किन्तु, अतीत-प्रेमी या कालातीत-वादी होकर भी ये 'पुरातन-प्रतिपादक' नहीं हैं। ये अतीत के महत्त्व को एक उचित मात्रा में स्वीकार करते हैं। तभी तो इन्होंने लिखा है, "वह जाति भी कम अभागी नहीं होती, जिसके अतीत संस्कार उसे बेतरह जकड़कर अपने जीवन को वर्तमान के अनुकूल बनाने में बाधक होते हैं।" उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि देवराज अतीत पंथी, रूढ़िवादी या अनाधुनिक विचारक नहीं हैं, बल्कि ये केवल 'नवीनता के लिए नवीनता' के उन्माद का विरोध करते हैं। इन्होंने 'लोकायतन' पर अपनी प्रतिक्रिया लिखने के क्रम में इन दिनों प्रचलित नवीनता के उन्माद पर घोर दुश्चिन्ता प्रकट की है, "हिन्दी में इधर नए की उपासना इतनी बढ़ गई है कि हम ऐसे लेखकों को, जिन्होंने बीस-पचीस वर्ष या उससे पहले लिखना शुरू किया था, विकसित व प्रौढ़ होने का अवसर ही नहीं देना चाहते। इस स्थिति का एक फल यह है कि विभिन्न शैलियों एवं आन्दोलनों के प्रवर्तक व नेता लेखक भी, विशेष प्रौढ़ और स्थायी कृतियों का अनुदान दे सकने से पहले ही, पिछड़े हुए या छूटे तमंचे घोषित कर दिए जाते हैं। यदि ज्यादा दिनों तक हिन्दी में यही स्थिति रही तो सम्भवतः हमारा साहित्य वयःसन्धिकाल के लेखकों का

\*डॉ. कुमार विमल, पूर्व कुलपति, बिहार लोकसेवा आयोग के पूर्व अध्यक्ष तथा जाने-माने लेखक एवं समीक्षक हैं। पता : 96, एम. आई. जी. एच., लोहिया नगर, पटना-20

साहित्य ही बनकर रह जाएगा।" यों, कहनेवाले, विशेषकर आधुनिकता के उन्माद से आहत विचारक, इतना कह ही सकते हैं कि इलियट के प्रभाव में आकर देवराज ने कहीं-कहीं अतीत, सांस्कृतिक इतिहास और परम्परा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया है। उदाहरणार्थ, इनका मत है कि, "जैसे-जैसे कोई लेखक प्रौढ़ बनता है, वैसे-वैसे उसमें अपने को सांस्कृतिक इतिहास से विच्छिन्न करके देखने की प्रवृत्ति घटती है और अपने को परम्परा की एक कड़ी के रूप में देखने-समझने की प्रवृत्ति बढ़ती है। हमें लगता है कि हमारे अधिकांश लेखक-समीक्षक कच्चे और अविकसित रूप में अतीत के प्रति विद्रोही हैं।" इन सभी तर्कों, प्रतिपत्तिकाओं और व्युत्प्रेक्षाओं पर सोचने के बाद यह निष्कर्ष सामने आता है कि देवराज, कुल मिलाकर, पुरातन-पंथी नहीं हैं। ये सम्भवतः इतना ही कहना चाहते हैं कि ज्यादा महत्त्वपूर्ण रचना युगीन होते हुए भी सार्वकालिक होने का आभास देती है। इसलिए ये किसी नई अनुभूति के प्रकाशन-मात्र को ही महत्ता का प्रतिमान नहीं मानते। इनकी दृष्टि में काव्य की सार्वकालिक विशेषताएँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, न कि वक्ती तकाजों पर किए गए शैलीगत नवान्वेषण। वैसे, देवराज के लिए भी शैली आलोच्य कृति के कलापक्ष का नन्दतिक सौष्ठव-मात्र नहीं है, बल्कि उसकी सार्थकता जगत-जीवन-सापेक्ष है। ये तो यहाँ तक कहते हैं कि शैली में नवान्वेषण की माँग सदैव व्यर्थ नहीं होती, क्योंकि 'नई शैली जीवन की नई सम्भावनाओं के उद्घाटन और नए मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील होती है।' इसलिए जब-जब जीवन-संचेतना और काव्य-संवेदना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है, तब-तब शैली पुराने निर्माक को उतार कर नवीन बन जाती है। इस प्रकार सांस्कृतिक सातत्यक (कंटिन्युअम) हर युग की शैली में नवीनता का पुट भर देता है और गतानुगतिक पारम्परिक संवेदना से ऊबी हुई भाषा अमूर्तन तथा प्रतीकन के सहारे नई विन्यास-भंगिमा एवं कान्ति अर्जित कर लेती है। उदाहरणार्थ, छायावादी काव्य-भाषा में बहुधा प्रयुक्त शब्द द्विवेदी-युग में भी प्रचलित थे; किन्तु, छायावाद-युग में उन शब्दों की वही अर्थच्छाया नहीं रही, जो द्विवेदी-युग में थी। अर्थात् नया युग केवल नए शब्दों को लेकर अपनी काव्य-भाषा नहीं रचता, बल्कि पुराने या प्रचलित शब्दों के रूढ़ अनुषंगों में भी परिवर्तन लाकर नई काव्य-भाषा गढ़ लेता है। इस तरह स्पष्ट है कि देवराज शैली के नएपन को न एकांगी महत्त्व देते हैं और न शैलीगत नवान्वेषण के महत्त्व को एकदम नकारते हैं। अर्थात्, ये केवल कथ्य या केवल कथन-भंगिमा को पार्यन्तिक महत्त्व नहीं देते। शायद, यह कहना निरापद होगा कि ये शिल्प के साथ ही रचनागत कथ्य को महत्त्व देते हैं; कारण, इनकी दृष्टि में कुछ कहने के लिए बेचैनी साहित्यिक विकास की सबसे जरूरी शर्त है।<sup>1</sup> सचमुच, यह 'कुछ कहने' की बेचैनी सांस्कृतिक समृद्धि से युक्त कलाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व की अनिवार्य निशानी है और जीवन के बड़े सन्दर्भों को संकेतित करने की बेकली है।

एक तत्त्वाभिव्यक्ति आलोचक के रूप में देवराज का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले आलोचना के स्वरूप और प्रयोजन तथा आलोचक के दायित्व से सम्बन्धित इनके विचारों को देखा-परखा जाए। आलोचना के स्वरूप, दायित्व और प्रयोजन से सम्बन्धित इनके विचार 'साहित्य-चिन्ता' में संकलित 'आलोचना का अधिकार' और 'साहित्य का मानदण्ड' शीर्षक निबन्धों में व्यवस्थित ढंग से निबद्ध हैं। इन्होंने आलोचना को रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या के रूप में स्वीकार किया है। 'बौद्धिक व्याख्या' इसलिए कि काव्य का रसास्वादन एक बात है और उसका विश्लेषण-मूल्यांकन नितान्त दूसरी बात है। रसास्वादन एक 'मूक एवं निष्क्रिय व्यापार' है और आलोचना मुखर तथा सक्रिय व्यापार है। रसास्वादन और आलोचन के इस पृथुल पार्थक्य को ध्यान में रखते हुए देवराज ने आलोचक के लिए इन तीन गुणों से उपेत होना अनिवार्य माना है, "साहित्यिक कृति को पहचानने अथवा कलात्मक अनुभूति को ग्रहण करने की योग्यता यानी सहृदयता, उस कृति या अनुभूति की विशेषताओं को भाषा में व्यक्त कर सकने की योग्यता और उसके मूल्यांकन के लिए एक दृष्टिकोण।" तदनन्तर, देवराज आलोचक का कर्तव्य केवल इतना भर नहीं मानते कि वह आलोच्य कृति में न्यस्त 'अनुभूति के आत्मपाती पक्ष का विश्लेषण या स्पष्टीकरण' कर दे। इनकी दृष्टि में आलोचक की यह इतिकर्तव्यता प्रभाववादी प्रवृत्ति की चिन्त्य परिणति है। ये काव्य-निबद्ध अनुभूति के विश्लेषण-स्पष्टीकरण के साथ ही उसका साहित्यिक मूल्यांकन भी आलोचक के कर्तव्य की परिमिति में स्वीकार करते हैं। अतः आलोचक के लिए साहित्यिक अनुभूति के रागात्मक और बोधात्मक दोनों पक्षों को दृष्टिगत रखना आवश्यक है। इन दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए साहित्यिक अनुभूति का मूल्यांकन व्यापकता, गम्भीरता और मौलिकता की दृष्टि से होना चाहिए। यहाँ ध्यातव्य है कि देवराज मौलिकता को अनुभूतिगत नूतनता के रूप में स्वीकार करते हैं, मात्र शैली की विचित्रता के अर्थ में नहीं। तीसरी बात यह है कि ये आलोच्य कृति का मूल्यांकन अन्तरराष्ट्रीय मानों के आधार पर करना चाहते हैं, क्योंकि कला तथा चिन्तन के श्रेष्ठतम प्रयत्न सार्वभौम होते हैं। इनका कहना है कि, "किसी भी भाषा में कलात्मक सृष्टि के महत्तम निदर्शन कम रहते हैं, अतः साहित्यिक उत्कर्ष के अनेक रूपों से परिचित होने के लिए अन्य देशीय साहित्यों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा ही हम तरह-तरह की कलात्मक सृष्टि के मानों को प्राप्त कर सकते हैं।" इस मन्तव्य से प्रकट है कि देवराज के अनुसार आलोचना सार्वभौम मानों पर निर्भर एक बौद्धिक व्यापार है। इन्होंने अन्तरराष्ट्रीय या सार्वभौम मानों पर इसलिए विशेष बल दिया है कि इनकी दृष्टि में स्वादेशिकता का दुस्वयज मोह अथवा प्रान्तीयता आलोचना का सबसे भयंकर दोष है (भले ही कृति-साहित्यकार के लिए यह क्षम्य हो!)।

आज हम जिस युग में जी रहे हैं, उसमें विभिन्न देशों अथवा जातियों का 'भौगोलिक एकात्म' एकदम विनष्ट हो चुका है। अतः अब स्वदेशी संस्कृति के प्रति केवल स्तुतिमूलक प्रतिक्रिया या उसी में सीमित रहने का आग्रह एक यातयाम और अनर्थात्मक प्रवृत्ति है। अब तो देश-काल की सीमाओं का अतिक्रम करके आत्मप्रसार की चेष्टा सुसंस्कृत व्यक्तित्व की पहली विशेषता है। इस प्रकार देवराज आलोचना के सार्वभौम या अन्तरराष्ट्रीय मानदण्डों के परम आग्रही हैं। वक्ती कसौटी की अवहेलना कर जब ये सार्वभौम या अन्तरराष्ट्रीय मानदण्डों की चर्चा करते हैं, तब ये शायद यह कहना चाहते हैं कि, "साहित्य का मानदण्ड या तो मानवता का अशेषजैवी और मनोवैज्ञानिक, नैतिक और सांस्कृतिकजीवन है अथवा महान कलाकारों की वे कृतियाँ, जो इस जीवन के विस्तार और गहराई को अनेक ढंगों से उद्घाटित करती रही हैं। साहित्य विशेष के महत्त्व की तौल सिद्धान्तों के बाटों से नहीं, मानव-जीवन की समग्रता अथवा उसे व्यक्त करने के प्रयत्नों की आपेक्षिक पूर्णता से ही हो सकती है।" वक्ती पैमाने की उपेक्षा और सार्वभौम मानों के प्रति आग्रह का कारण यह है कि इनके विचार 'वाद' विशेष के खेमे-खूँटे में नहीं बँधे हैं। इन्होंने अपनी साहित्य-सर्जना और साहित्यानुशीलन में अप्रतिम दृष्टि-विस्तार से काम लिया है। इनका विश्वास है कि, "प्रतिभाशाली कलाकार वाद-विशेष का अनुशीलन उसे स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए नहीं करता, उसके लिए सिद्धान्त-विशेष दृष्टि-प्रसार का साधन-मात्र होता है।" वक्ती पैमाने या जदीदियत की माँग किसी कृति को समसामयिक महत्त्व दे सकती है, मगर कालातीत महत्त्व नहीं। इसलिए देवराज ने समसामयिक साहित्य के वक्ती रुझान पर चिन्ता व्यक्त करते हुए लिखा है, "अधिकांश लेखक अपनी रचना में उन्हीं गुणों को प्रतिष्ठित करने की कोशिश करते हैं, जो समसामयिक आलोचना में बहुचर्चित हैं। ऐसे लेखक कम होते हैं, जो सामयिक आलोचना की माँगों के परे जाकर उन तत्त्वों का ध्यान करें, जो श्रेष्ठ साहित्य को सिर्फ अपने युग में नहीं, बल्कि साहित्यिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण बनाते हैं।"

देवराज समय, युग-बोध और युग-चेतना की अवहेलना नहीं करते, किन्तु युगीनता को ऐकान्तिक महत्त्व देने का विरोध करते हैं। इनकी दृष्टि में आधुनिक हिन्दी आलोचना युगीनता को अत्यधिक महत्त्व देकर पाण्डु बनती जा रही है। इन्होंने लिखा है कि, "छायावाद-युग से ही हमारी समीक्षा कुछ अधिक वर्णनात्मक होती आई है। वह क्रान्तिकारी प्रयोगों और शैलियों के द्वारा व्यक्त की हुई संवेदना की युगीनता को अधिक देखती रही है, अभिव्यक्त संवेदन की ऊँचाई, गहराई और शक्ति को कम। अक्सर वह नई संवेदना की प्रत्येक विशेषता को महत्ता का प्रतिमान मानते हुए कमोवेश अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की भाषा बोलती रही है। इस प्रवृत्ति ने छायावाद-युग के और इधर के साहित्यकारों के सन्तुलित मूल्यांकन में बाधा डाली है।" समसामयिक हिन्दी आलोचना से देवराज की दूसरी शिकायत यह है कि इसमें आंग्ल-अवलेहनवादी

प्रवृत्ति जोर पर है। इस चिन्त्य प्रवृत्ति पर आक्रोश व्यक्त करते हुए इन्होंने कहा है कि, “हिन्दी का उदयशील लेखक-समीक्षक साहित्य की किसी विशेषता अथवा साहित्य को देखने के किसी कोण का उल्लेख पहली बार किसी अंग्रेजी की पुस्तक में पढ़ता है, बाद में वह उसका उपयोग हिन्दी साहित्य के विश्लेषण और मूल्यांकन में करने लगता है।” सचमुच, वट पर पीपल का छिलका चिपकाने की यह प्रवृत्ति हिन्दी आलोचना के स्वतन्त्र विकास के लिए अहितकर है।

देवराज ने आत्म-प्रसार या अस्तित्व-विस्तार के प्रयास को साहित्य का सर्वोच्च महत्त्व-विधायक तत्त्व माना है, क्योंकि ‘अपनी भावना-शक्ति द्वारा अनुभूत जगत का मानसिक अनुवाद करके मनुष्य अपने अस्तित्व का प्रसार या विस्तार करता है।’ इस प्रसार-प्रियता के कारण ही देवराज विशेषीकरण को संस्कृति का अपकर्षक घटक मानते हैं। अतः साहित्य के सन्दर्भ में भी ये खण्ड-दृष्टि या विधि-निषेध के पक्षधर नहीं हैं। इनके विचार में ‘साहित्य जीवन की समग्रता का हामी है, वह उसके किसी भी अंग के निषेध को सहन नहीं कर सकता’। इस प्रकार साहित्य विधि-निषेध से परे रहकर और जगत-जीवन के यथार्थ को अपना वस्तुसम्पृक्त आधार बनाकर ‘कल्पना-घटित संभाव्य जीवन’ के समग्र चित्र प्रस्तुत करता है। फलस्वरूप, मानव-प्रकृति के सभी प्रमुख आयामजैविक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक और आध्यात्मिकसाहित्य में ऋजु अथवा तिरश्चीन अभिव्यक्ति पाते हैं। शायद, इसी कारण देवराज ने बहुत ही अभिनिवेश के साथ यह प्रतिपादित किया है कि साहित्य को कार्य-जगत और जीवन के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है। साहित्य सम्बन्धी इन्हीं धारणाओं के आधार पर इन्होंने अपनी आलोचनात्मक मान्यताओं का अभिनियन्तन किया है। इनकी दृष्टि में आलोचना का मुख्य प्रयोजन है ‘पाठकों के रस-बोध को सचेतन बनाना और उनमें घटिया-बढ़िया साहित्य के विभिन्न धरातलों का विवेक उत्पन्न करना।’ इस मान्यता के पूर्वार्द्ध से ही स्पष्ट है कि जिसमें समृद्ध रसग्राहिता या साहित्यिक अनुभूति रहेगी, वही श्रेष्ठ आलोचक बन सकता है। इसी गुण के अभाव में इन दिनों ‘अच्छिद्रशिच्छददर्शी’ आलोचकों की तादाद बढ़ गई है और ‘उदयतदण्ड, विवृत-पौरुष’ नारेबाज कवियों की जमात ज्वार पर चढ़ गई है। साहित्य को एक ‘जनतंत्री कला’ मानने के कारण देवराज इस बात की सिफारिश करते हैं कि मूल्यांकन के लिए श्रेष्ठतम पाठकों की रुचि को ही मानदण्ड बनाया जाना चाहिए। कुल मिलाकर देवराज का आलोचनात्मक दृष्टिकोण रसानुभूत्यात्मक है, मात्र शास्त्रीय नहीं। अतः ये मानते हैं कि श्रेष्ठ आलोचक की ‘मान्यताओं के पीछे व्यवस्थित चिन्तन का बल’ रहता है और उसकी मान्यताएँ ‘साहित्यिक अनुभव’ से उत्थित होती हैं, न कि केवल शास्त्र-निषेध से भाराक्रान्त। “शक्तिमान समीक्षक बनने की यह अनिवार्य शर्त है कि समीक्षक केवल उतने ही और उन्हीं पैमानों का प्रयोग करें, जिनका उसने अपनी अध्ययन-अनुभूति में ईमानदारी से साक्षात्कार किया है और जिन्हें उसने दीर्घ

चिन्तन द्वारा आत्मसात कर लिया है।” केवल शास्त्रीय निकष पर मीनमेख करना परीक्षक का कार्य है, समीक्षक का नहीं। इसलिए देवराज ने परीक्षक और समीक्षक की कार्य-सीमा का पार्थक्य निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि परीक्षक मुख्यतया शास्त्रीय या विश्वविद्यालयी मानदण्डों के आधार पर विचार-पक्ष की जाँच करता है, जबकि समीक्षक समीक्ष्य कृति में नियोजित जीवन-चित्रों की शक्ति और मार्मिकता का विश्लेषण करता है। अर्थात् “समीक्षक का विशिष्ट कार्य विचारों की जाँच करना नहीं है जो समीक्षक किसी साहित्यिक कृति को सिर्फ उसमें निहित विचारों के कारण भला-बुरा कहता है, वह अपना प्रकृत कार्य सम्पन्न नहीं करता।”

देवराज की दृष्टि में रसानुभूति अर्थात् साहित्यिक अनुभूति को बुद्धिगम्य बनाने की चेष्टा आलोचक के कर्तव्य<sup>1</sup> की इति नहीं है। कारण, देवराज, कई अर्थों में, सोद्देश्यतावादी आलोचक हैं और प्रत्येक आलोच्य कृति में लोक मंगल या ऐन्द्र क्षेम का निर्देश ढूँढ़ा करते हैं। किसी कृति के केवल शिल्प-सौष्ठव से इनका मन नहीं भरता, क्योंकि ये जीवन की दार्शनिक-नैतिक सार्थकता की खोज में विशेष रुचि रखते हैं। इसीलिए ‘नदी के द्वीप’ की कान्त भाषा-शैली और उसकी शालीन आभामयी अर्थवत्ता की उन्मुक्त प्रशंसा करने पर भी ये उसे अशक्त कृति मानते हैं, क्योंकि उसमें किसी ‘प्रखर आदर्श अथवा जीवन-दर्शन’ का अभाव है। शायद, शुक्ल जी की तरह देवराज भी इसे मानते हैं कि कोई भी कलाकृति मनुष्य के कर्म-जगत से संपृक्त होकर ही महान बनती है। इसलिए स्पष्ट है कि देवराज सोद्देश्यतावादी आलोचक हैं और यह कहते नहीं अघाते हैं कि ‘आलोचना का लक्ष्य ईमानदार पाठकों की अनुभूति को सचेतन बनाना है, न कि उसे झुठलाना।’

देवराज की आलोचना-दृष्टि पर ‘क्लासिक’ और ‘रोमांटिक’ के (तथाकथित) सनातन द्वैत का काफी असर है। मेरी दृष्टि में ‘क्लासिक’ और ‘रोमांटिक’ परस्पर विरोधी नहीं हैं और न इनमें अन्योन्याभाव सम्बन्ध है। ये दोनों उन समानान्तर रेखाओं की तरह नहीं हैं, जो कभी मिल ही नहीं पातीं। कला का इतिहास हमें बतलाता है कि क्लासिकल युग में भी रोमांटिक रचनाएँ होती हैं और रोमांटिक युग में भी क्लासिकल रचनाएँ होती हैं। इतना ही नहीं, क्लासिकल कलाकार भी रोमांटिक रचना करता है और रोमांटिक कलाकार भी क्लासिकल प्रवृत्ति की कृतियों की सर्जना करता है। अतः न कोई काल, वाद या व्यक्ति निरपेक्ष रूप में क्लासिकल या रोमांटिक होता है, बल्कि मनुष्य की वृत्तियाँ ही क्लासिकल और रोमांटिक होती हैं। इस प्रकार वृत्तियों की प्रधानता या वृत्ति-चक्र के मुताबिक उसकी रचनाएँ कभी क्लासिकल और कभी रोमांटिक कहलाती रहती हैं, यद्यपि गोवलीवर्द न्याय से ये दोनों प्रवृत्तियाँ सदैव एक-दूसरे में विद्यमान रहती हैं। किन्तु, देवराज के सम्पूर्ण आलोचना-साहित्य को पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि इन्होंने एस. अलेक्जेंडर की तरह क्लासिक और रोमांटिक

के द्वैत को नन्दतिक प्रतिपक्ष (aesthetic opposition) के रूप में स्वीकार कर लिया है।

देवराज साहित्य के लिए *संस्कृति-बोध और सांस्कृतिक प्रत्यय* की प्रचुर महत्ता स्वीकार करते हैं। इन्होंने सन् 1960 ईस्वी के बाद लिखे गए आलोचनात्मक निबन्धों में इस धारणा को विशेष अभिनिवेश के साथ प्रतिपादित किया है। यों सन् 1957 ईस्वी में प्रकाशित 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' नामक महाप्रबन्ध इनकी सांस्कृतिक पृच्छाशीलता का महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। किन्तु, उसका सन्दर्भ साहित्यिक नहीं, दार्शनिक है। साहित्य के सन्दर्भ में संस्कृति-सम्बन्धी इनकी विचारणाओं का प्रथम उन्मेष 'साहित्य-चिन्ता' में संकलित 'साहित्य और संस्कृति' शीर्षक निबन्ध में मिलता है, जो सन् 1949 ईस्वी में लिखा गया था। सच पूछिए तो 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' इसी निबन्ध में पूर्वाशित है। देवराज की दृष्टि में संस्कृति और मानवता लगभग पर्यायवाची हैं, क्योंकि ये मानवतावादी संस्कृति को ही एकमात्र संस्कृति मानते हैं तथा यह उद्घोषित करते हैं कि मनुष्य ही कला और चिन्तन की मूल संकल्पना का केन्द्र है। इस मानी में इनके संस्कृति-सम्बन्धी विचार 'द फिलॉसफी आव ह्यूमैनिज्म' के लेखक कोर्लिस लमोण्ट (Corlis Lamomt) से मिलते-जुलते हैं। आशय यह है कि देवराज की साहित्य-संस्कृति से सम्बन्धित मान्यताओं में मानवतावादी स्वर प्रखर है। इनकी स्पष्टोक्ति है कि 'साहित्य हमें मानव-व्यक्तित्व को सहानुभूति एवं महत्त्व देना सिखाता है।' इसी धारणा को इन्होंने अपने अनन्वय ग्रन्थ 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' में 'सृजनात्मक मानववाद' के रूप में विकसित किया है। यह सृजनात्मक मानववाद ही इनका 'संस्कृति-दर्शन' है, जो युग-बोध और युगानुभूति के समस्त क्षेत्रों की परीक्षा-निरीक्षा पर निर्भर है तथा हमारे समक्ष 'जीवन-मूल्यों के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण' का नूतन क्षितिज उद्घाटित करता है। इन्हें इस बात का असन्तोष है कि 'संस्कृति-बोध की दृष्टि से खड़ी बोली हिन्दी ने अभी तक कोई इलियट की कक्षा का लेखक भी उत्पन्न नहीं किया है।' समृद्ध संस्कृति-बोध<sup>2</sup> के बिना साहित्य की सामाजिक सार्थकता निष्प्राण हो जाती है। सांस्कृतिक प्रत्यय से देवराज को इतना स्नेह है कि इन्होंने इसके अभाव के लिए शुक्ल जी को भी क्षन्तव्य नहीं माना है। इनके अनुसार, युग के सांस्कृतिक संघर्ष से तटस्थ रहनेवाला व्यक्ति न श्रेष्ठ साहित्यकार हो सकता है और न आलोचक। इसलिए प्रत्येक साहित्यकार और आलोचक को युग के सांस्कृतिक संघर्ष में सक्रिय भाग लेना चाहिए। दुर्भाग्यवश शुक्ल जी अपने युग के सांस्कृतिक संघर्ष से लगभग अलग थे और वर्णाश्रमवाद को अधृष्य रखने के आग्रही थे। वे तो अपनी आलोचना के द्वारा इतना ही सिद्ध कर सके कि सांस्कृतिक दृष्टि से हमारा देश काव्य-प्रधान देश है। संभव है कि सांस्कृतिक बोध की सम्पन्नता अर्जित कर लेने पर शुक्ल जी व्यावहारिक आलोचना की तरह सैद्धान्तिक आलोचना में भी अपना कमाल दिखला देते और आलोच्य काव्य-कृति की

उत्कृष्टता-अपकृष्टता का विवेचनात्मक खंडन-मंडन करने में या तर्ज अमल में ही अपनी सिद्धहस्तता सीमित नहीं रखते। मतलब यह कि देवराज साहित्यकार और आलोचक को समाज का 'क्रियाशील सांस्कृतिक नेता' तथा 'मानवता की सशक्त जिजीविषा या जीवनेच्छा का प्रवक्ता' मानते हैं। देवराज के सम्पूर्ण प्रकाशित साहित्य के अवलोकन से भी यह प्रमाणित होता है कि ये सर्जना और आलोचनादोनों ही धरातलों पर युगीन संस्कृति की जिह्वताओं के प्रति सचेत हैं। संस्कृति-बोध के प्रति इनके आग्रही होने का मुख्य कारण यह है कि ये प्रत्ययवादी साहित्यकार (और शायद, हीगेल की तरह प्रत्ययवादी दार्शनिक) हैं और प्रत्ययों या 'आइडियाज' के अध्ययन-अर्जन पर विशेष बल देते हैं। इनका विश्वास है कि गहन प्रत्ययों (सांस्कृतिक प्रत्ययों) की कोख से ही गहरी भावनाएँ जनमती हैं। इस मानी में ये कॉलरिज के समीप पड़ते हैं। वस्तुतः देवराज की उक्त धारणा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि 'महान' साहित्यकार, कवि या कलाकार बनने के लिए एक ही साथ भावुक और प्रत्ययशीलविचारशील होना आवश्यक है। प्रत्ययशील या विचारशील हुए बिना कोई भी व्यक्ति उस 'समृद्ध सांस्कृतिक बोध' को अर्जित नहीं कर सकता, जो उत्कृष्ट साहित्य-सृजन की एक नितान्त अनिवार्यता है। इसी से यह निष्पन्न होता है कि 'संस्कृति-सम्पन्न' व्यक्ति ही कवि या कलाकार होता है तथा 'सांस्कृतिक प्रत्ययों' को साहित्य के सन्दर्भ में विनियोजित करने की क्षमता रखता है।

इस सन्दर्भ में देवराज के आलोचना-दर्शन के कुछ गौण (किन्तु, महत्त्वपूर्ण) सूत्रों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके हैं कि देवराज रूढ़िवादी या गतानुगतिक ढंग से सोचने वाले आलोचक नहीं हैं। इनकी स्पष्ट धारणा है कि 'हरेक साहित्यकार का व्यक्तित्व अथवा कृतित्व कुछ अर्थों में निराला होता है, जिसे साहित्यालोचन के बँधे हुए प्रतिमानों द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता।' इसलिए ये आलोचना के मूल्य-मानों को भी लोचदार और स्थितिस्थापक बनाए रखना चाहते हैं। इनके अनुसार 'रसग्राही आलोचक की सैद्धान्तिक दृष्टि में इतना लचीलापन होना चाहिए कि वह देश-काल अथवा गुण की दृष्टि से एक-दूसरे से नितान्त भिन्न साहित्यिक कृतियों के अलग-अलग सौन्दर्य को देख-परख सके।' इस प्रकार देवराज बेलीक साहित्यकार और समसामयिक प्रगति-प्रयोग के प्रति अनुदार नहीं हैं। फलस्वरूप, ये प्राचीन काव्यशास्त्र को या पुराप्रतिपादित मान्यताओं को परिपूर्ण नहीं मानते और आलोचनात्मक मानदण्डों को आप्तवचनों की आवृत्ति नहीं बनाना चाहते। इनकी दृष्टि में 'मूल्यांकन के असली पैमाने प्रतिपादित सिद्धान्त-सूत्र न होकर वे महनीय कृतियाँ हैं, जो हमारे लम्बे सांस्कृतिक इतिहास में सुप्रतिष्ठित हो चुकी हैं।' अतः ये आलोच्य कृति में व्यक्त अनुभूति और आलोचक के आस्वाद-सुख को ही आलोचना के मानदण्ड का आधार-द्रव्य मानते हैं। कुल मिलाकर देवराज की समीक्षा-कृतियों में हम आलोचना के प्राचीन और नवीन मानदण्डों का समन्वय पाते हैं, क्योंकि ये प्रतिमानों



के एकांगी नहीं, संश्लिष्ट प्रयोग के पक्षधर हैं। इनका विचार है कि श्रेष्ठ समीक्षक सचेत या अचेत रूप में मूल्यांकन के अनेक प्रतिमानों का संश्लिष्ट प्रयोग करने की योग्यता रखता है। शायद, प्रतिमानों के स्थिरीकरण में प्राचीन और नवीन के संश्लेषण को स्वीकार करने के कारण ही ये सभी पुराने आचार्यों को 'छूटे तंमचे' घोषित करना नहीं चाहते हैं।

देवराज मूल्यों के विधिपरक पक्ष पर विशेष ध्यान देते हैं और आलोच्य कृति का मूल्यांकन कवि की प्रेरक 'अनुभूति की सम्पन्नता' के आधार पर करते हैं। प्रेरक अनुभूति की सम्पन्नता के अलावा देवराज आलोच्य कृति में अनुस्यूत बौद्धिक विभावन, सार्थक अन्विति, सघन अभिव्यंजना-निर्वाह और प्रभावगत ऐक्य को महत्त्व देते हैं। तदनन्तर, ये भावों के उद्बोध-मात्र से अधिक भावों के उपचय को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। 'साहित्य-चिन्ता' में प्रतिपादित 'विभावों की मुख्यता' का सिद्धान्त मूलतः उपचित भावों को रस-दशा तक पहुँचाने का ही सिद्धान्त है। प्रयास करने पर इनके 'विभाव-विधान' और इन दिनों बहुचर्चित 'बिम्ब-विधान' के बीच साम्य के कुछ प्रच्छन्न सूत्र ढूँढे जा सकते हैं, क्योंकि इन्होंने विभावों के प्रत्यक्षीकरण को ही बिम्ब-विधान माना है। अन्तिम बात यह है कि ये आलोच्य कृति में विन्यस्त अनुभाव, भाव, राग इत्यादि की मीमांसा के साथ ही लेखक के बोध-पक्ष के विस्तार की जाँच आवश्यक मानते हैं। लेखक के बोध-पक्ष की जाँच के बिना आलोचना पारदर्शी विश्लेषण नहीं प्रस्तुत कर सकती।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि देवराज के पास सैद्धान्तिक आलोचना और रचनात्मक समीक्षा की प्रखर योग्यता थी। एक गहन चिन्तक और सूक्ष्मेक्षिका-सम्पन्न दार्शनिक होने के कारण इन्होंने इस पर बार-बार सोचने की कोशिश की है कि श्रेष्ठ या महान साहित्य के विविध उपादान क्या-क्या होते हैं। साहित्य के उत्कर्ष-विधायक उपादानों की इस अविरल खोज ने इनकी दृष्टि को तात्विक और तल-स्पर्शी बना दिया है। दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि इनकी भाषा-शैली में अनुभूत तत्त्वों को ठीक से विश्लेषित और मूर्त कर लेने की प्रचुर क्षमता है। आज के युग में, जबकि लेखक की भाषा और संवेदना में काफी विच्छेद उत्पन्न हो गया है, इस क्षमता का अर्जन आसान नहीं है। इसी क्षमता के कारण हम देवराज के आलोचनात्मक निबन्धों में ही नहीं, इनके कृति साहित्य में भी 'विश्लेषणात्मक सचेत भाषा' का प्रांजल प्रयोग पाते हैं। आलोचक के रूप में इनके अनुपेक्षणीय महत्त्व का एक अतिरिक्त कारण यह है कि इनमें सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ ही सांस्कृतिक और दार्शनिक पृच्छाशीलता है। यह आवश्यक नहीं कि इनकी सभी व्युत्प्रेक्षाएँ या विभावन सर्वग्राह्य और सर्ववादिसम्मत ही हों। किन्तु, ये अपनी मान्यताओं, व्युत्प्रेक्षाओं और विभावनों का उपस्थापन इतनी सावधानी तथा तर्क-पुष्टि के साथ करते हैं कि उनके प्रभाव से बच पाना कठिन हो पाता है।

## सन्दर्भ

1. 'साहित्य, समीक्षा और विचार-तत्त्व' शीर्षक निबन्ध में देवराज ने साहित्यकार और समीक्षक के कार्य का निर्देश करते हुए लिखा है, "साहित्यकार जीवन सम्बन्धी विशिष्ट छवियों का तीव्र आकलन करता है, उन कवियों और व्यापारों में कुछ की महत्ता उसे शक्ति के साथ आकृष्ट करती है, इस आकर्षण की तीव्र अनुभूति को वह जीवन की सम्प्रतीति (vision) के रूप में क्रमशः प्रकाशित कर देता है। इस एकीकृत जीवन-दृष्टि या प्रतीति को, उसके समूचे विस्तार, बारीकी और गहराई में पाठक के सामने उद्घाटित कर देना समीक्षक का विशिष्ट कार्य है; लेखक के सामान्य कथन या सिद्धान्त-सूत्र उसके लिए सीमित महत्त्व ही रखते हैं।"
2. इसी संस्कृति-बोध पर आधारित 'सांस्कृतिक सौन्दर्यशास्त्र' के क्षेत्र में भी डॉ. देवराज का योगदान उल्लेखनीय है। इन्होंने संस्कृति और संस्कृति-बोध की पृष्ठभूमि में भारतीय काव्य की विवेचना कर आधुनिक हिन्दी साहित्यालोचन में 'सांस्कृतिक सौन्दर्यशास्त्र' को विकसित किया था। इस सन्दर्भ में डॉ. देवराज की ये कृतियाँ 'साहित्य-समीक्षा और संस्कृति-बोध', 'भारतीय संस्कृति : महाकाव्यों के आलोक में', 'दर्शन, धर्म-अध्यात्म और संस्कृति' तथा 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' महत्त्वपूर्ण हैं। इस विषय पर इनके द्वारा लिखित कई सुचिन्तित आलेख तथा निबन्ध भी उपलब्ध हैं, जिनमें 'संस्कृति-बोध : एक और स्पष्टीकरण' (आलोचना त्रैमासिक, जुलाई-सितम्बर, 1976, पृष्ठ 28-33) और 'Cultural Confusion in Modern India' (प्रज्ञा, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, मार्च, 1967) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने कला तथा साहित्य के रसात्मक मूल्यों पर और अपने मुख्य विचार-बिन्दु सर्जनात्मक मानववाद पर विचार करते समय मनुष्य के सतत विकासमान 'सांस्कृतिक आत्म' को दृष्टि-पथ में रखा है।

## हिन्दी सर्जना एवं आलोचना बिखराव के सन्दर्भ\*

### डॉ. कृष्णचन्द्र गोस्वामी\*\*

“अनुभव और अर्थ के जिस संश्लेषण को रचनाकार भाषा के अधिकतम सर्जनात्मक रूप के सहारे व्यक्त करता है; उसे अपेक्षया सीधी-सादी भाषा में विश्लेषित और व्याख्यायित करते रहने का दायित्व समीक्षक का है। आधुनिक दृष्टि से रचना जीवन के अर्थ का विस्तार करती है तो आलोचना रचना के अर्थ का।” प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह वक्तव्य सर्जना और आलोचना के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर जो एक गहराएक सार्थक संकेत करता है; वह यह कि सर्जना और आलोचना दोनों का जीवन के साथ एक आत्यांतिक सम्बन्ध है। सर्जक और आलोचक में से एक यदि अनुभव के उपकरण से जीवन के अर्थ को पकड़ता और रचता है, तो दूसरा रचना-विश्लेषण के क्रम में जीवन के अर्थ को साधता है।

हिन्दी साहित्य के द्वितीय सर्जनात्मक उन्मेष ‘छायावाद’ के दौरान हम एक अपूर्व दृश्य देखते हैं। युग की सर्जनात्मक-प्रतिभा के शीर्षस्थ प्रतिनिधि महाकवि प्रसाद अपनी ‘कामायनी’ के रचना-विधान की मूल-कल्पना के सूत्र मानव-मनोभावोंचिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, निर्वेद और आनन्द के सहयोग से रचने में निमग्न हैं, यह इस दृश्य का एक पहलू है। दृश्य का दूसरा पहलू आचार्य शुक्ल के चिन्तन-क्रम में से उभरता है; जहाँ वे हृदय को साथ लेकर निकली बुद्धि की चिन्तन-यात्रा के पड़ावों का अर्जन अपने पाठकों को सौंपते हैं। उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध। अरे! यह भी तो मानव-मनोभाव ही हैं!

इस दृश्य की अपूर्वता इस बात में है कि युग-विशेष के शीर्षस्थ सर्जक प्रसाद और शीर्षस्थ आलोचक शुक्ल जी, दोनों अपने-अपने क्षेत्र में; लगभग एक ही समय; एक ही काम को सम्पन्न कर रहे हैं। सर्जक सर्जनात्मक प्रतिभा के माध्यम से यदि मनोरागों की मूर्तियाँ रच रहा है तो आलोचक अपने आलोचनात्मक-विवेक के माध्यम

\*श्रीरामस्वरूप चतुर्वेदी प्रसंग, भोपाल, 10-11 अप्रैल 04

\*\*‘श्रीनिकुंज’ बी-90, जवाहर नगर, भरतपुर (राजस्थान)

से इन्हीं मनोरागों के विश्लेषण में तल्लीन है। यह सर्जना और आलोचना की आत्यांतिक एकता का ऐसा दुर्लभ उदाहरण है जो हिन्दी में तो अद्वितीय है ही किसी भी अन्य भाषा के साहित्य में मिलना भी कठिन है। इतना ही नहीं; इस घटना से इस बात का आभास भी मिलता है कि सर्जक और आलोचक अपने साझा-समय को जब कभी गहरी-निष्ठा और प्रामाणिकता के साथ जीते और रचते हैं, तब वे एक ही दिशा में अभिगमन करते हैं।

सर्जक और आलोचक की इस आत्यन्तिक-एकता के सन्दर्भ में; यदि हम आज मुख्यतः नई कविता और वामपंथी विचारधारा के मिले-जुले रूप से विकसित समीक्षा की नई-भंगिमा पर दृष्टि-निक्षेप करें तो जो दृश्य सामने आता है; वह काफी छितरा-छितरा, बिखरा-बिखरा-सा नजर आएगा। प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने साहित्य और संवेदना के विकास का विश्लेषण करते हुए इस ओर संकेत भी किया है। वह लिखते हैं “यह सचमुच एक विचित्र स्थिति है कि साधारण ढंग से ‘छायावाद’ कहने पर...कामायनी, राम की शक्ति-पूजा और ‘तुलसीदास’ को पृष्ठभूमि में डाल दिया जाता है।”

उल्लेखनीय है कि यह स्थिति केवल छायावाद के मूल्यांकन की ही नहीं है; अपितु हिन्दी साहित्य के प्रथम सर्जनात्मक उन्मेष ‘भक्तिकाल’ के प्रमुख कवि कबीर और तुलसीदास के मूल्यांकन में भी ध्यान आती है। अपने समय से टकराने और उसे रचनेवाले भूषण जो पूरे रीतिकाल में अकेले जीवन और जीवन्तता के प्रमाण-रूप कवि हैं, के मूल्यांकन की भी यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक-काल में यह सूची पंत, महादेवी, अज्ञेय, प्रेमचन्द सहित अनेक महत्वपूर्ण सर्जकों और आलोचकों को अपनी गिरफ्त में लेती देखी जा सकती है। ऐसे समय में, सर्जना और आलोचना के मध्य एकतानता स्थापित करनेवाले अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओं की पहचान कर पाना एक कठिन ही नहीं; अपितु असंभव-सा काम हो गया है।

वस्तुतः सर्जना और आलोचना की आन्तरिक एकतानता को भंग करनेवाली इस प्रवृत्ति के बीज पहले ‘वादगत-आग्रहों में अंकुरित हुए और बाद में ‘विरादरी-गत दुराग्रहों’ में जिसे स्व. शैलेश मटियानी ‘गिरोहगत आग्रह’ भी कहते थे। इस समीक्षा-शैली का व्यावर्तक-लक्षण यह रहा है कि यह किसी भी सर्जक आलोचक के सम्पूर्ण सर्जनात्मक-व्यक्तित्व से बतियाने और उसका विश्लेषण कर उसके विपुलार्थ को साधने के स्थान पर उसकी रचनाओं में से कुछ सुविधाजनक अंशों का चयन कर उसके कृतित्व का अधिमूल्यन या अवमूल्यन करती है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इस समीक्षा-धारा द्वारा किए कुछ महत्वपूर्ण साहित्यकारों के मूल्यांकन पर दृष्टिपात करना उचित होगा।

सबसे पहले कबीर से बात शुरू करते हैं। इस धारा ने कबीर को समाज सुधारक के रूप में इतने जोर-शोर से प्रचारित किया कि उनका भक्त रूप जिसके

कारण वे भक्ति-काल के बड़े कवि हैंदूर तक दब गया है। कुछ 'काँकर-पाथर' जोड़कर कबीर का जैसा चित्र यह समीक्षा-धारा हिन्दी-पाठक के सामने खड़ा करती है; वह उस 'प्रेम-तत्त्व' की चर्चा के अभाव में अधूरा है; जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उनकी भक्ति साधना का 'केन्द्र-बिन्दु' कहते हैं। इस सन्दर्भ में कबीर के रचना-संसार का बहुलांश उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के विचार विश्लेषण में अनछुआ रह जाता है। जहाँ तक तुलसी की बात है तो उनपर दशरथ का दरबारी कवि होने आदि के जो आक्षेप इन लोगों की ओर से लगेवे सर्वविदित हैं। ये वे तुलसी हैं जिन्हें शुक्ल जी ने 'भारत-हृदय, भारती-कंठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास कहकर याद किया है।

जहाँ तक भूषण का प्रश्न है तो भूषण इस समीक्षा शैली वालों के लिए पूरी तरह अनुल्लेख्य और अस्पृश्य हैं। फिर भी, यदि कहीं भूषण का नाम लेना ही पड़ा तो हृदयगत भावनाएँ अपने यथार्थ रूप में कुछ इस तरह प्रकट हुई हैं

“मध्ययुग में भूषण जैसे एकाध लेखकों को छोड़ हिन्दी साहित्य की धारा आजतक तमाम तरह की संकीर्णताओं, साम्प्रदायिकताओं, क्षुद्रताओं से बची रही है।”

ये शब्द हैंसाहित्य अकादमी, दिल्ली की पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' के पूर्व-सम्पादक और साहित्यकार गिरधर राठी के जो 1994-95 में प्रकाशित इण्डिया टुडे की साहित्य-वार्षिकी में छपे उनके वक्तव्य का हिस्सा हैं। जिस भूषण की कविता को मिश्र बन्धुओं ने 'वास्तव में हिन्दी साहित्य का भूषण', आचार्य शुक्ल, ने 'कवि-कीर्ति सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त', दिनकर ने 'अपना अलग व्यक्तित्व रखनेवाली', बच्चन सिंह ने 'जातीय जीवन की पक्षधर और अत्याचार के विरुद्ध सक्रिय' बताया तथा डॉ. रामविलास शर्मा ने जिस रचनाकार के लिए निराला जी के इन शब्दों को अपने ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश' के खण्ड-2 में यों उद्धृत किया

“ब्रजभाषा के एक भूषण ने भारतीय राष्ट्र के लिए जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर 300 वर्षों के अन्दर समग्र भारत वर्ष में अपनी कवित्व-प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका!” (पृ. 569)

उस रचनाकार पर की गई गिरधर राठी की यह टिप्पणी विवेक के किस रंग की परिचायक है? अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के तमाम लेखकीय अधिकारों का पूरा आदर करते हुए भी; यह प्रश्न तो यहाँ पूछा ही जा सकता है।

आधुनिक-काल के रचनाकारों के साथ मूल्यांकन के सन्दर्भ में इस समीक्षा-धारा का क्या रुख रहा, यह देखना भी कम कौतूहल पूर्ण नहीं है। एक-दो प्रसंगों की चर्चा से पूरा दृश्य समझा जा सकता है।

जिसे हमने इस लेख के आरम्भ में 'हिन्दी साहित्य का द्वितीय सर्जनात्मक-उन्मेष' कहा हैउस छायावाद तथा उसके शीर्षस्थ रचनाकारों की शक्ति और सामर्थ्य का

विपुलार्थ पाठक के सामने रखने में भी यह समीक्षा धारा काफी अनुदार रही है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' के साथ निराला की अनेक कविताएँ और गीत ऐसे थे जिनकी चर्चा या मूल्यांकन बिना किए ही इस धारा ने अपनी निकटता निराला के साथ दिखाई। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या निराला का यह मूल्यांकन, ठीक उस कोटि का नहीं है जिस कोटि का 'रामचरित मानस' और 'विनय पत्रिका' के बिना तुलसी का मूल्यांकन होगा? निराला काव्य के महदर्थों का साक्षात्कार करने के लिए केवल 'कुकुरमुत्ता' या 'नए पत्ते' निश्चित रूप से अपर्याप्त हैं।

प्रसाद जी की 'कामायनी' से लगातार बीस वर्षों तक टकराते रहने के बाद भी मुक्तिबोध 'पुनर्विचार' करते हुए अन्त में कहाँ पहुँचे? इस प्रश्न के पास कि 'कामायनी की कमजोरी क्या है?' और उन्हें लगता है कि 'यह कमजोरी वही है जो प्रसाद की कमजोरी है...क्योंकि उनका दर्शन जीवन-जगत की वास्तविक समस्याओं से अर्थात् मानव सम्बन्धों की समस्याओं से भले ही, मनोवैज्ञानिक छुटकारा दिला दे, परन्तु जीवन-जगत की उन समस्याओं के अस्तित्व को समाप्त नहीं करता, क्योंकि उन समस्याओं से जो छुटकारा पाया गया है; वह, वस्तुतः उन समस्याओं से पलायन का एक तरीका है।' (कामायनी : एक पुनर्विचार : पृष्ठ 153)

मैं यहाँ यह प्रश्न पूछने नहीं जा रहा कि वह कौन-सा दर्शन है जिसके पास जीवन-जगत अर्थात् मानव-सम्बन्धों की वास्तविक समस्याओं के अस्तित्व को समाप्त कर देने की अचूक-दवा है? क्योंकि मैं जानता हूँ कि संसार में ऐसा कोई दर्शन आज की तारीख तक तो अस्तित्व में ही नहीं आया और यह कभी होनेवाला भी नहीं है क्योंकि जीवन जगत अर्थात् मानव-सम्बन्धों की वास्तविक समस्याओं के रूप को उसके बिना घटित हुए जान लेने का दावा-नदी-प्रवाह में एक लहर के बाद किस तरह की दूसरी लहर आएगीइसे जानने का दावा करने जैसी बात होगी। यह एक असम्भव स्थिति है।

हाँ, 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के सम्बन्ध में मेरी रुचि यह जानने में अवश्य है कि अपने जीवन के बीस वर्षों तक जिस कृति के साहचर्य में मुक्तिबोध रहे। उसकी आलोचना करने वे किस 'प्रतिज्ञा' के साथ बैठे? इस प्रतिज्ञा का खुलासा इस 'पुनर्विचार' पर एक और पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। इस पर अलग से कभी सविस्तर विचार करना होगा। फिलहाल, 'पुनर्विचार' को पढ़कर जो धारणा बनती है, वह यह कि कामायनी के महदर्थ को व्याख्यायित करने में मुक्तिबोध प्रायः असफल रहे हैं।

मई-अगस्त 1981 के पूर्वग्रह में प्रकाशित एक साक्षात्कार में वाचिक-परम्परा के व्यास नामवर जी ने आलोचना के (और प्रकारान्तर से आलोचक के भी) दायित्व की चर्चा करते हुए एक बात बड़े पते की कही कि, “आलोचना का दायित्व यह दिखाना भी होता है कि कोई कलाकृति जिन विचारों को व्यक्त करने की घोषणा करती है,

कहीं अपनी सम्पूर्णता में वह (आलोचना) स्वयं उसका विरोध तो नहीं कर रही है।”

मेरा विचार है कि कामायनी से जुड़ते हुए मुक्तिबोध जिस रास्ते पर चले गए हैं वह कामायनी में व्यक्त विचारों के विरोध की दिशा में जाता है। जिस तरह ‘निराला की साहित्य-साधना’ का पाठ, पाठक में निराला के साहित्य के समीप जाने की आकुलता को तीव्र करता है अथवा ‘नरेश मेहता : कविता की ऊर्ध्वयात्रा’ का पाठ मुझे या मेरे जैसे न जाने कितने पाठकों को नरेश मेहता के सृजन-लोक में ठेलकर उसका अध्ययन करने को विवश कर देता है। ठीक उसी तरह की प्रेरणा, उसी तरह की विवशता पुनर्विचार को पढ़कर उत्पन्न नहीं होती। इस तरह यह कृति आलोचना के रूप में मुक्तिबोध की विश्लेषण-क्षमता का लोहा साहित्य-जगत में भले ही मनवा ले किन्तु आलोचना के सामान्य-धर्म रचना के अर्थ-विस्तार के निर्वाह में वह विशेष सफल होती दिखाई नहीं देती। यह सर्जना और आलोचना के पारस्परिक बिखराव और भटकाव का ही उदाहरण नहीं, ऐसी आलोचना का भी प्रतिदर्श है जिसे ‘प्रतिसर्गवादी आलोचना’ कह सकते हैं।

नई कविता और वामपंथी विचारधारा के मिश्रित सन्दर्भों में विकसित इस समीक्षा धारा ने पन्त, महादेवी, अज्ञेय, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती को लेकर जो दृष्टिकोण अपनाया, वह किसी से छुपा नहीं है। कथासाहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द और जैनेन्द्र तथा निबन्ध में कुबेरनाथ राय और विद्यानिवास मिश्र आदि के साथ भी वह वामपंथी धारा लगभग वैसा ही व्यवहार करती रही है जैसा इसने उपर्युक्त कवियों के साथ किया।

अजीब तमाशा है कि तीन सौ से अधिक कहानियों के लेखक प्रेमचन्द ‘कफन’ और ‘पूस की रात’ तक सिमेट दिए गए और क्योंकि निबन्ध बिना अपनी संस्कृति में गहरे उतरे, लिखा ही नहीं जा सकता कदाचित् इसीलिए निबन्ध को तो साहित्य की विधा ही मानने से इंकार कर दिया गया। अन्यथा क्या कारण हो सकता है कि निबन्ध विधा के भाग्य में साहित्य अकादमी सम्मान की रेख मिटा दी गई। जहाँ तक मुझे याद आता है कि यह सम्मान निबन्ध संग्रह ‘आलोक पर्व’ के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को मिला थान उनसे पहले कोई इसके योग्य लिखा; और न बाद में।

और अन्त में, ‘कथासतीसर’ उपन्यास की लेखिका चन्द्रकान्ता ने अपने अभी हाल ही के एक पत्र दि. 23 मार्च 2004 में आलोचकों पर यह टिप्पणी मुझे लिखकर भेजी ‘अधिकांश आलोचक/समीक्षक अपनी विचारधारा का प्रतिबिम्ब रचनाओं में चाहते हैं।’ मुझे लगता है कि यही वह कारण है जो आज की हिन्दी सर्जना और आलोचना के मध्य बिखराव के दृश्य रचता है। इत्यलम्।

## आधुनिक सन्दर्भ में ‘रामचरित मानस’

### डॉ. रमानाथ त्रिपाठी\*

वाल्मीकि के राम महामानव हैं। वे अत्यन्त सुन्दर हैं, बलिष्ठ भी। उनकी भुजाएँ लौह मुद्गर (परिघ) के समान हैं, बोल है नगाड़े जैसा दुन्दुभि-स्वनः। वे कभी कठिन परिस्थितियों में भी झूठ नहीं बोलते। उनका प्रेम-क्रोध-शोक सभी कुछ महान् है। वे अत्यन्त संवेदनशील हैं। प्राणप्रिया वैदेही से बिछुड़कर वे दलदल में फँसे हाथी के समान छटपटा उठते हैं। किन्तु, जनमत का सम्मान करते हुए उसी प्राण-प्रियतमा को निर्वासित कर देते हैं।

कई शताब्दियों तक राम के चरित और चरित्र का विकास होता गया। वे नरत्व से नारायणत्व की ओर अग्रसर होते गए। अध्यात्म-रामायण में उन्हें पूर्णतः परमात्मा मान लिया गया। वाल्मीकि रामायण के सम्पूर्ण चरित को अध्यात्म के रंग में रँगकर प्रस्तुत किया गया। अब तक रामभक्ति का प्रबल प्रचार समस्त भारत में हो चुका था, इसका बहुत कुछ श्रेय रामानन्द को जाता है।

तुलसीदास ने जिन राम का गुणगान किया वे एक ओर तो वाल्मीकि रामायण के राम के समान संवेदनशील मानव हैं तो दूसरी ओर वे अध्यात्म-रामायण के राम के समान परब्रह्म भी हैं। देखा जाए तो तुलसी के राम इन दोनों ग्रन्थों के राम से भी विशिष्ट हैं। वाल्मीकि-रामायण के राम में प्रचण्ड आवेग है। तुलसी के राम में शील और संयम का आधिक्य है। अध्यात्म-रामायण के राम ब्रह्म हैं, केवल महाविष्णु। तुलसी के राम तो ‘बिधि-हरि-संभु-नचावन हारे’ अर्थात् तीनों देवताओं से ऊपर हैं। अध्यात्म-रामायण में राम के मानव-रूप को कम ही उभारा गया है। तुलसी के सुन्दर, सशक्त और सुशील राम सहृदय ब्रह्म हैं।

वे इतने सुन्दर हैं कि जब वे धनुष पर बाण चढ़ाकर मृग पर प्रहार करने के लिए भौंहेँ सिकोड़कर देखते हैं तो उस समय की शोभा उमड़कर वन प्रान्त को प्लावित कर देती है। मृग उनके सौन्दर्य से प्रभावित होकर भागते नहीं। मृगों की यह दशा देख राम से बाण छोड़ते नहीं बनता। राम इतने मधुमय आकर्षक हैं कि जब विष से भरा फन उठाकर उन्हें नागिन देखती है तो वह फुंकारना भूल जाती है, उसका दाहक विष

\*हिन्दी के यशस्वी कथाकार तथा रामकथा के मर्मज्ञ।

धरती पर अनायास ही टपक जाता है। बिच्छू के तने हुए डंक से भी विष और आक्रोश दोनों ही झर पड़ते हैं

जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी।  
तजहिं विषम विषु तामस तीछी॥

राम सुन्दर हैं किन्तु उनके शौर्य-पराक्रम में कहीं कभी नहीं है। वे **वृषभ कंध केहरि ठविन हैं** बैल के कुवड़जैसे कन्धे और सिंहजैसी ठविन वाले / दीन-दुःखी व्यक्तियों पर घटित अत्याचारों को देख उनकी भुजाएँ फड़क उठती हैं। वे अत्यन्त विनम्र हैं, किन्तु जब परशुराम उन्हें लगातार लताड़ते रहते हैं तो उनका स्वाभिमानी स्वर गूँज उठता है

जों रन हमहि पचारै कोऊ।  
लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥  
छत्रिय तनु धरि समर सकाना।  
कुल कलंकु तेहि पावँर आना।  
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी।  
कालहु डरहिं न रन रघुवंशी॥

राम शील सम्पन्न हैं। अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान रखते हैं, किसी का दिल नहीं दुखाते। वाल्मीकि के राम कभी-कभी कैकेयी के प्रति कटुता व्यक्त कर देते हैं, किन्तु तुलसी के राम उसके प्रति सदैव सद्भाव प्रदर्शित करते हैं, उसके मन की ग्लानि को दूर करने का प्रयास करते हैं। लक्ष्मण ने भरत को सेना-सहित चित्रकूट आते देखा तो वे भड़क उठे। वे जटाजूट बाँध धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर भरत को दण्डित करने के लिए तत्पर हुए। राम असमंजस में पड़ गए। उन्हें अपने ये दोनों ही भाई प्रिय हैं, उन्हें दोनों पर विश्वास है। वाल्मीकि-रामायण में तो भरत पर सन्देह करने के लिए लक्ष्मण को राम डाँट ही देते हैं। क्या ऐसा करना उचित था? जो भाई राम के लिए अपने समस्त सुख और जीवन-संगिनी को छोड़ वन में चला आया है, उसे ऐसी कड़ी बात नहीं कही जानी चाहिए थी। वाल्मीकि के राम यहाँ छोटे नहीं हो गए हैं, लेखक दिखाना चाहता है कि वे भरत का कितना विश्वास करते हैं। तुलसी के राम दोनों के प्रति सद्भाव रखकर स्थिति को सुन्दर ढंग से सँभालते हैं

कही तात तुम्ह नीति सुहाई।  
सबतें कठिन राजमदु भाई॥  
भरतहि होइ न राजमदु विधि हरि हर पद पाई।

उन्होंने लक्ष्मण का समर्थन किया कि तुम ठीक कहते हो, सत्ता के मद में बड़े-बड़े चूर हो जाते हैं, किन्तु भरत को तो यह मद हो ही नहीं सकता। राम

भोले-भाले वनवासियों की अटपटी बातें ऐसे चाव से सुनते हैं जैसे कि वत्सल पिता अपने शिशुओं की बातें सुनता है

वचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन।

सेनापति के रूप में वे एक-एक वानर सैनिक की कुशल-क्षेम पूछते हैं। ऐसा स्वामी पाकर सैनिक धन्य हो गए होंगे।

अस कपि एक न सेना माहीं।  
राम कुसल जेहि पूछी नाहीं॥

तुलसी के राम में भारतीय संस्कृति की समस्त श्रेष्ठ उपलब्धियाँ पुंजीभूत हो गई हैं। उनका ग्रन्थ 'रामचरित मानस' वेद-उपनिषद्-पुराण, दर्शनशास्त्र-नीतिशास्त्र, साहित्य आदि की विशेषताओं का निचोड़ है। यह हर रोग, हर समस्या के निदान का अचूक रामबाण है। यह रामबाण सर्वजन सुलभ रहा है। पठित लोग 'मानस' का पाठ किया करते हैं। नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में रामलीला और धनुषयज्ञ लीला होती हैं। तुलसी द्वारा प्रचारित रामकथा समस्त समाज की जीवन-पद्धति पर छा गई। 'मानस' की सूक्तियों का वास जन-जन के कण्ठ में है। सुख-दुःख के क्षणों में ये सूक्तियाँ उनके अधरों से अनायास फूट पड़ती हैं।

1857 ई. में अंग्रेजों के विरुद्ध जो महाविद्रोह हुआ था उसे अंग्रेजों ने मुट्ठी-भर लोगों की बगावत अथवा गदर कहकर इसका अवमूल्यन किया था। वीर सावरकर ने इसे स्वातन्त्र्य समर कहा था। इससे भी पहले देश की जनता ने इसे 'रामहल्ला' कहा था। इस नामकरण के पीछे प्रेरणा किसकी थी? तुलसी के 'रामचरित मानस' की।

'मानस' की प्राणवत्ता, जीवनीशक्ति और प्रासंगिकता की सफल परीक्षा आज से लगभग डेढ़-सौ वर्ष पूर्व हो चुकी हैं। अंग्रेज लोग भारत के गरीब और दलित मजदूरों को लोभ और धोखा देकर जहाजों में भर-भर कर मारिशस, फीजी, सूरीनाम, गुयाना, दक्षिण अफ्रीका और ट्रिनिडाड ले गए थे। वहाँ उन पर भीषण अत्याचार किए गए। इन असहाय दुखियारों के पास एक ही सम्बल था 'रामचरित मानस' का। वे छिप-छिपकर इसे पढ़ते-सुनते, रोते और प्रेरणा पाते थे। उन्हें विश्वास था कि एक दिन वे इस आततायी शक्ति पर उसी प्रकार विजयी होंगे जैसे कि राम रावण पर हुए थे। सच में ऐसा ही हुआ।

महात्मा गाँधी को 'मानस' का विजय-रथ प्रसंग प्रिय था, जिसे वे बड़ी-बड़ी सभाओं में सुनाया करते थे। साधन-सम्पन्न रावण के रथ में बैठा देख विभीषण विचलित हो उठा था

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना।  
केहि विधि जितव बीर बलवाना।

राम ने कहा थासखा, जिससे विजय प्राप्त होती है, वह रथ तो दूसरा ही है। शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, संयम, परोपकार, क्षमा, दया आदि गुणों वाला, अर्थात् सुदृढ़ मनोबल और सदाचार वाला व्यक्ति भले ही साधनहीन हो, वह साधन-सम्पन्न प्रचण्ड शक्ति पर विजय लाभ करता ही है। अंग्रेज शक्ति-सम्पन्न थे, तोप-टैंक-बन्दूक धारी। लँगोटीधारी फकीर गाँधी जी थे निहत्थे। उपर्युक्त धर्मरथ के बल पर ही उन्होंने अंग्रेजों की क्रूर शक्ति पर विजय प्राप्त की थी।

मेरे मित्र प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित ने बताया था कि जब श्री चन्द्रशेखर आजाद को अल्फ्रेड पार्क में अंग्रेज पुलिस ने घेर लिया था, तो वे 'मानस' की यह अर्धाली बोल-बोलकर फायर कर रहे थे **हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम से खल मृग खोजत फिरहीं।**

मेरे एक दूर के चाचा ने अंग्रेज कन्या से प्रेम विवाह कर लिया था। मैंने अपनी इस अंग्रेज चाची को पत्र लिखा। उसने अंग्रेजी में उत्तर दिया था। पत्र के मध्य देवनागरी में एक पंक्ति उद्धृत की गई थी **जा की रही भावना जैसी। प्रभू मूरति देखी तिन तैसी।** मेरे बड़े भाई पं गोपीनाथ ने एक बार चाची से यों ही कहा था, "आप हमारे गाँव के स्कूल का निरीक्षण करने आइए। कस्बे तक जीप से, फिर साइकिल से।"

स्कूल इंस्पेक्ट्रेस यह अंग्रेज चाची बोल उठी थी, "हाय राम! लल्ला, क्या सीता साइकिल पर बैठकर अयोध्या आई थीं। मेरे लिए पर्दे वाली बैलगाड़ी भेजना।" मैं चकित था, एक अंग्रेज महिला पर 'मानस' का प्रभाव देखकर। मेरे चाचा ने ही उसे 'मानस' पढ़ाया था।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व लोगों के चरित्र में नैतिकता थी। इसका निर्माण तुलसी के 'मानस' ने भी किया था। देश स्वतन्त्र हुआ। हमने अंग्रेजों को निकाल बाहर किया, किन्तु अंग्रेजियत को गले लगा लिया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् मानो पूरा राष्ट्र लक्ष्यहीन हो गया। व्यक्तिगत स्वार्थ उभरे, नैतिक पतन होता चला गया। राष्ट्रीय चरित्र का घोर अभाव दिखाई पड़ने लगा। पंचायत से लेकर संसद तक के चुनावों के माहौल ने सारा राष्ट्र हिलाकर रख दिया। चोर, डाकू, तस्कर और भ्रष्टाचारी चुनाव जीतकर आने लगे हैं। लोकतन्त्र में वोट बैंक महत्त्वपूर्ण होता है। राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति के नाम पर वोट नहीं माँगे जा रहे हैं। जाति-बिरादीवाद भड़काया जा रहा है। अल्पसंख्यकों के संगठित वोट हथियाने के लिए तुष्टिकरण की नीति अपनायी जा रही है। इसे नाम दिया जा रहा है सेक्युलरवाद। इसके साथ अब जुड़ गया है वंशवाद। वोट-लोलुप कुछ स्वार्थी नेताओं को भय था कि राम के प्रति अगाध श्रद्धा रखने के कारण जाति-बिरादरी के संगठित वोट कहीं हाथ से न निकल जाएँ, इसलिए उन्होंने राम का ही विरोध आरम्भ कर दिया। गलत ढंग से जीतकर आनेवाले शासक तथा

व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित नेता आज निरंकुश हो रहे हैं। हमारी परम्परा ऐसी नहीं रही है। रामायण में 'राजकर्तागण' का उल्लेख हुआ है। ये धर्म-नीति सदाचार का अनुसरण करनेवाले चरित्रवान् पठित व्यक्ति हुआ करते थे। इन्हें ही किसी को सिंहासन पर बिठाने अथवा उससे उतारने का अधिकार प्राप्त था।

हमारे यहाँ राजतंत्र में भी प्रजातंत्र रहा है। तुसली के राम ऐसे शासक हैं जो गुरु ऐसे शासक हैं जो गुरु वसिष्ठ को प्रणाम करते हैं, निषाद गुह को छाती से लगाते हैं और भोले-भाले वनवासियों को समादर देते हैं। उन्होंने मंत्रियों और नागरिकों को राजसभा में बुलाकर घोषणा की थी

जों अनीति कछु भाषों भाई।

तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

भले ही विघटन-वादी स्वार्थी नेता जातिवाद भड़काकर वोट पा जाते हों, किन्तु प्रयास करने पर भी ये अपनी बिरादरी के लोगों को राम से विमुख नहीं कर पाए। तुलसी ने उनके मन में राम को गहराई से बिठा दिया है। म.प्र. तुलसी अकादेमी (भोपाल) ने चित्रकूट में दीपावली-महोत्सव का कार्यक्रम रखा था। वहाँ मैंने देखा, असंख्य निर्धन लोग झुण्ड-के-झुण्ड एकत्र हो रहे हैं। किसी के सिर पर सामान से भरा टीन था, किसी के सिर पर लकड़ियों का गट्टर। फटे वस्त्र पहिने महिलाएँ गोद में बच्चे या सामान लिए चली जा रही थीं। जहाँ भी जगह दिखाई दी, ईंट या पत्थर के चूल्हें सुलगा दिए गए। खुले में ही कँकरीली धरती पर वे सो गए। अगले दिन कामदगिरि पर दीप जलाने तथा मन्दाकिनी में दीप प्रवाहित करने के लिए कई लाख लोग एकत्र हुए। मैंने एक फटे हाल व्यक्ति से पूछा, "यहाँ किसलिए आए हो?" उसने उत्तर दियाराम यहाँ आए हुए हैं। उन्हें ऐसा महसूस न हो कि वे अकेले हैं, इसलिए हम उनके साथ दीवाली मनाने आए हैं।

सड़क के किनारे-किनारे लाउडस्पीकर लगे थे, घोषणा हो रही थी, "अमुक धोबी, अमुक धानुक, अमुक चमार, अमुक तिवारी, अमुक यादव की माँ, बहू या बच्चा खो गए हैं या यहाँ-यहाँ हैं। उनके परिवार के लोग सम्पर्क करें। मैंने डायरी निकालकर जाति नाम नोट किए। 100 नामों में 70 नाम ऐसे थे जो पिछड़े या दलित वर्ग में आते हैं, केवल 30 नाम ऐसे थे जो सवर्ण जाति के कहे जा सकते हैं।"

तुलसी ने सभी के प्रति समभाव रखा है। उन्होंने भक्ति के नाते दलित वर्ग को अधिक मान्यता दी है

तुलसी भगत सुपच भलौ, भजै रैन दिन राम।

ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥

मेरे गाँव के जमादार का एकलौता बेटा मर गया था। मिलने पर मैंने उससे कहा, "काका, बहुत बुरा हुआ।" उसने तत्काल उत्तर दिया "लला, **होइहि सोइ जो**

**राम रचि राखा।** मैं चकित था, यह अपढ़ व्यक्ति तुलसी की एक अर्धाली के बल पर इतना बड़ा आघात सह गया। दिल्ली सरकार की हिन्दी अकादमी ने तुलसी पंचशती के अवसर पर लोकगीत गायन प्रतियोगिता का आयोजन किया था। तथाकथित दलित वर्ग की अपढ़ महिलाओं ने रामकथा-सम्बन्धी हृदयस्पर्शी गीत गाकर सारा पण्डाल गुँजा दिया था।

इन लोगों से राम छीन लिया गया तो इनकी जीवन पद्धति का मेरुदण्ड ही टूट जाएगा। क्या भ्रष्ट राजनेता चाहते हैं कि इन लोगों के परिवार में परस्पर प्यार करनेवाले माता-पिता-पुत्र न हों, भाई-भाई न हों, सीता-सी पतिव्रता नारी न हों। क्या बड़ी-से-बड़ी विपत्ति को राम नाम के सहारे झेल जाने का इनका सम्बल तोड़ दिया जाए?

देश में आपातकाल लगाया गया। मेरे एक विनोदी मित्र ने पूछा, “आप कहा करते हैं कि तुलसी सदैव प्रासंगिक हैं। क्या उन्होंने आपातकाल के लिए कुछ कहा है?” मैंने भी विनोदपूर्वक ये पंक्तियाँ सुना दीं

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।  
आपदकाल परिखिअहिं चारी॥

तुलसी ने अपने साहित्य में जिस नारी का चित्रण किया है, वह माता है, बेटी है, भाभी है, प्रिया अर्धांगिनी है, किन्तु भोग्या नहीं। सीता के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि देखनेवाले उनके चरणों में प्रणाम कर उठते हैं **सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा।** तुलसी ने वानरी और राक्षसी या अन्य नारियों के भी नग्न सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया।

किसी समय समाज को शासित करता था धर्म अथवा उत्तम ग्रन्थ। आज यह कार्य कर रहा है इलेक्ट्रॉनिक मीडिया। दूरदर्शन एक सशक्त माध्यम है, उसकी स्थिति हो गई है **बिष रस भरा कनक घट जैसे।** वह जिस अधनंगी नारी को प्रदर्शित कर रहा है वह पुरुषों से हाथ मिलाती है, किसी को भी आलिंगन चुम्बन देती है और शराब पीती है। क्वॉरी अवस्था में ही वह कभी-कभी माँ बन जाती है, तब जबकि दूरदर्शन से प्रचारित परिवार-नियोजन से बच्चे तक परिचित हैं। दूरदर्शन दो नम्बर की कमाई करनेवाले करोड़पतियों की उच्छृंखल जीवन पद्धति पर आधारित धारावाहिकों का प्रदर्शन कर रहा है, इसमें जिस सभ्यता-संस्कृति का चित्रण होता है, उसकी जड़ें धरती को नहीं छूतीं।

जब देश में विदेशी शब्दों की बाढ़ आई हुई थी, तुलसी ने तत्सम शब्द-बहुल प्रवाहमयी भाषा का प्रयोग कर इस बाढ़ को रोका था। आज दूरदर्शन भ्रष्ट भाषा हमारे ऊपर थोप रहा है। इसके हिन्दी कार्यक्रमों की भी नामावली अंग्रेजी में प्रस्तुत की जाती है। कहीं नागरीलिपि को प्रभावहीन कर देने का षड्यंत्र तो नहीं है यह?

सहृदय ब्रह्म राम के माध्यम से तुलसी ने एक परिपूर्ण आदर्श की स्थापना की। रस-सृष्टि, प्रसंग-योजना, चरित्र-चित्रण, नीति-कथन, उक्ति-चमत्कार आदि के द्वारा उन्होंने लोकमंगल का भव्य आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने सन्देश दिया कि यश कमाना हो तो उसका साधन गंगाजल सा पवित्र और लोककल्याणकारी हो। धन एकत्र कर वैभवशाली बनना है तो अर्थ-संचय का साधन भी गंगाजल जैसा पवित्र हो। इसी प्रकार साहित्य-कला के क्षेत्र में भी कोई योगदान करना हो तो उसका स्वरूप गंगाजल-सा शुचि और मंगलमय हो

कीरति भनिति भूति भलि सोई।  
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

गो. तुलसीदास निःस्पृह भक्त और विचारक थे। उन्हें किसी प्रकार का लोभ छूकर भी नहीं गया था। वे अत्यन्त विनम्र थे, किन्तु यदि कोई राम पर मंगल-विधायक तत्त्व पर प्रहार करता था उसकी उपेक्षा करता तो वे इसे सह नहीं पाते थे। ऐसे लोगों को फटकार लगाने से वे कभी नहीं चूके हैं।

आज जब मंगल-विधायक तत्त्वों पर भाँति-भाँति के आक्रमण हो रहे हैं, सत्ता-लोलुपता के कारण समस्त राष्ट्र को विखण्डित किया जा रहा है, समाज लक्ष्यहीन और भोग-परायण हो रहा है, सांस्कृतिक प्रदूषण वृद्धि पर है, तो हम और कुछ करें या न करें तुलसी के साहित्य से प्रेरणा लेकर अवांछित तत्त्वों पर शाब्दिक प्रहार तो कर ही सकते हैं। साथ ही, उनके द्वारा स्थापित जीवन-मूल्यों को अपने जीवन में अधिकाधिक उतार भी सकते हैं।

## पुस्तक समीक्षा

प्रकाशक अपने सद्यः प्रकाशित पुस्तकों की  
2 प्रतियाँ ‘चिन्तन-सृजन’ में समीक्षा के लिए  
भेज सकते हैं। **प्रकाशक**

## तत्त्व-कविता-पितामह श्री वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी

### डॉ. विजयराघव रेड्डी\*

आन्ध्र प्रदेश में रायलसीमा का इलाका कई दृष्टियों से विलक्षण कहलाता है। भौगोलिक दृष्टि से देखें तो पहाड़ियों, टीलों व ऊबड़-खाबड़ पथरीली जमीन लिए, अत्यल्प वर्षा के कारण सूखाग्रस्त और अकाल पीड़ित इलाका है। सामाजिक दृष्टि से देखें तो वर्ग-संघर्ष, गुटबाजी और आए दिन गुटों के बीच के तगाजे के कारण मुकद्दमेबाजी का आलम रहता है। रायलसीमा के बीचोबीच कड़पा जिला है। रायलसीमा के हृदय स्थल में रहने के कारण इसकी निजी पहचान भी है। यहाँ हम अन्य बातों को न छूते हुए दार्शनिक क्षेत्र में इस जिले की विरासत और दार्शनिक प्रदेश पर विचार करना चाहेंगे।

15वीं सदी के 'ताल्लपाका' के निवासी 'अन्नमय्या' जो पदकविता पितामह अन्नमाचार्य कहलाए और 17वीं सदी के 'कदिमल्लय्यापल्ली' में समाधिस्थ 'वीरप्पा' (वीराचार्य) जो "तत्त्व-कविता-पितामह वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी", कहलाए, दोनों कड़पा जिले के निवासी हैं। ताल्लपाका और कदिमल्लय्यापल्ली, दोनों गाँव ज्यादा दूर पर भी नहीं हैं। अन्नमाचार्य एवं वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी दोनों के दार्शनिक विचार और उद्देश्य भिन्न-भिन्न होने पर भी उन्होंने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए जो माध्यम-रूप चुने हैं, गौर करने से हमें पता लगेगा कि उनका विकास एक ही मूल स्रोत से हुआ है।

तेलुगू में गेय कविता को 'पद कविता', कहते हैं। अन्नमाचार्य ने अपने आराध्य देव श्री वेंकटेश्वर की स्तुति में 32 हजार भक्ति प्रधान कीर्तन गाए हैं। कीर्तन और संकीर्तन दोनों शब्द उन गेय पदों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं जिनमें भगवान, ऋषि या भक्तों की स्तुति गाई गई हो। कीर्तन जो हैं साहित्य प्रधान होते हैं। ये गाने के लिए होते हैं। इनका संगीत सरल होता है। इन गेय पदों में नाद की अपेक्षा भाव की प्रधानता होती है और भाव की परिधि विस्तृत होती है।

तेलुगू में 'तत्त्वालु' (तत्त्वम् शब्द का बहुवचन रूप) और 'तत्त्व कवितलु' उन गेय पदों को कहते हैं जिनमें दर्शन की बातें प्रबोधात्मक रूप से ग्रामीण जनता की समझ में आने योग्य सरल भाषा में कही गई हों। तेलुगू में जो तत्त्व कविताएँ हैं, उन्हें

\* प्रोफेसर (अवकाश प्राप्त), केन्द्रीय हिन्दी संस्थान

उनके सामान्य जन में समादरण की वजह से लोक मानस की जिह्वा पर 'नृत्यरत भक्ति रसायण', भी कहा गया है। बहुत समय तक मौखिक रूप से प्रचार में रहने के बाद कहीं इन तत्त्वों में से कुछ को लेखन में अंकित हो जाने का सुअवसर मिला। बहुत सारे अभी मौखिक रूप में ही प्रचार में हैं। इसलिए कहा गया है कि 'लोकल रसनले आकुलु' अर्थात् जनता की जिह्वाएँ ही इनके लिखित पन्ने हैं। 'तत्त्वम्' शब्द को तत् + त्वम् में विभाजित कर यह अर्थ लिया जाता है कि वही तुम हो। तात्पर्य यह है कि यह दर्शन के निगूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि तेलुगू में दर्शनशास्त्र तत्त्वशास्त्र कहलाता है। अतः तत्त्वम् या तत्त्व कविता में दार्शनिकता का बोध स्वाभाविक है। इनका संगीत अति सरल होता है और ये 'एक तारा' वद्य में गाए जाते हैं।

साहित्यकार मानते हैं कि पद कविता हो या तत्त्व कविता इन दोनों का उत्स 13वीं शताब्दी के कृष्णमाचार्युलु द्वारा प्रस्तुत सिंहगिरि-वचनों में है, जो गाने योग्य हैं और ये 'वचन गेयालु' भी कहलाते हैं। ये ही वचन गेयालु 15वीं शताब्दी में परम भागवत् अन्नमाचार्य की भक्ति प्रपत्ति में रूपांतरित होकर पद कविताएँ व पद या गेय पद कहलाए। उन दिनों अन्नमाचार्य की पद कविताएँ इतनी ख्याति अर्जित कर रखी थीं कि उनका प्रचार कन्नड़ और तमिल प्रदेश में भी होने लगा था। अन्नमाचार्य के परवर्ती काल में, 16वीं शताब्दी में कन्नड़ के शैव सिद्धों के वचनों में तथा तमिल सिद्धों के 'पाडगल', में ये रूपायित हुए। तमिल में ये 'सिद्धर पाडगल' (सिद्धों के गाने/गीत) के नाम से विख्यात हुए हैं। फिर 17वीं शती में ये ही वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी के समय में उन्हीं के कारण तत्त्वों के रूप में रूपायित होकर प्रकट हुए। तत्त्व कविता के लिए वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी आद्य माने गए। तेलुगू के प्रखर कवि और पत्रकार गज्जेल मल्ला रेड्डी ने अपने एक आलेख में कहा कि तेलुगू में अनेक तत्त्व कवि हुए हैं जिन्हें अंग्रेजी में 'सेण्ट सिंगर्स' कहा गया है। जितने भी तत्त्व कवि रहे हों, लेकिन तेलुगू तत्त्व कविता के सन्दर्भ में पोतुलूर वीरब्रह्मम् सब के लिए 'मूल विराट' हैं। शेष सभी तत्त्व कवियों के तत्त्वों पर श्री वीरब्रह्म स्वामी के तत्त्वों का अपार प्रभाव है।

तेलुगू में प्रचलित कीर्तन, (ऋत संशब्दने धातु से उत्पन्न) संकीर्तन, (सम्मक् कीर्तनम्), भजन, पद, कृति, गीतम्, वचन, पाडगल (तेलुगू में पाटलु) और तत्त्वम् ये तमाम शब्दों के मूल में कहीं-न-कहीं गेयता या गेय तत्त्व निहित हैं, साथ ही ये भक्ति प्रतिपत्ति एवं दार्शनिक चिन्तन से भी जुड़े हुए हैं। फिर भी उनकी अपनी अलग महत्ता भी है। जहाँ तक तत्त्व कविताओं, यानी तत्त्वों का सम्बन्ध है इनकी कई विशेषताएँ गिनाई जाती हैं। उनमें से प्रमुख हैंलोक बानियों में रचे जाने के कारण कुछ लोग इन्हें लोक साहित्य की श्रेणी में रखने के पक्ष में हैं। ये एक ही व्यक्ति के द्वारा या फिर समूह में भजन मण्डलियों के द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। छन्दों का बन्धन इनमें नहीं होता। इसलिए रचनाकार की इसमें स्वेच्छा रहती है। गेय गुण इनका रहता है। गेय



गुण इनका अनिवार्य तत्त्व है, किन्तु किसी संगीत सम्प्रदाय या किन्हीं शास्त्रीय राग-रागणियों में ये निबद्ध नहीं होते। इसलिए रचनाकार के समान गायक की स्वेच्छा रहती है। जहाँ तक वाद्य यन्त्रों के सहकार का सम्बन्ध है, कोई नियम नहीं है कि किसी अमुक यन्त्र का सहारा लिया जाए या एक यन्त्र का सहारा लिया जाए या फिर एक से अधिक यन्त्रों का। हाँ एक ही व्यक्ति इनका जब गायन करता है, तब अक्सर एकतार का सहारा लेता है। जिस तरह से इनके रचनाकार किसी जाति, धर्म या वर्ग विशेष के नहीं होते, इसी प्रकार इनके गायकों में हिन्दू, मुस्लिम, सवर्ण और अवर्ण सब जाति के लोग होते हैं। तत्त्वों के रचनाकारों में महिलाएँ भी हैं। इसलिए उनके विचार में स्त्री-पुरुष की समानता दिखाई देती है। गाँव-गाँव घूमते हुए भिक्षाटन करने वाले, लोक कलाकार और अनपढ़ मजदूर जनों तक ये प्रचार में हैं। तत्त्वों के अन्त में प्रायः रचनाकारों का नाम भी गाया जाता है। विषय जितना भी दार्शनिक गहनता से सम्बन्धित क्यों न हो, उसे समझाने की पद्धति सुगम, व रसवत्तर होने एवं भाषा सरल व बोधगम्य होने के कारण तत्त्व कविताएँ प्रभावोत्पादक रहती हैं। कुछ हद तक इनकी तुलना बांग्ला और ओड़िया के चर्या पदों से की जा सकती है।

तेलुगू के तत्त्व कविता पितामह या तत्त्व रचना के मूल विराट के नाम से अभिहित वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी सामाजिक उन्नायक और समसमाज संस्थापक के रूप में जाने जाते हैं। वे तथा उनके अनुयायी प्रथम-सामाजिक कवि भी कहलाए। वीरब्रह्मम् के समय का रायलसीमा इलाका राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टि से दयनीय दौर से गुजर रहा था। उच्चवर्गीय समाज इसमें भी ब्राह्मण समाज और सम्पन्न पढ़े-लिखे लोग दूसरे वर्ग के लोगों को दबाकर रखना चाहते थे, ताकि उनकी प्रतिष्ठा बरकरार रहे। वे जगह-जगह पर धार्मिक मठों की स्थापना कर धार्मिक अनुष्ठानों एवं दार्शनिक चिन्तन को अपने तक सीमित रखना चाहते थे। दूसरे वर्ग के लोगों को जिनमें से अधिकांश निरक्षर हुआ करते थे, धर्म, दर्शन, संस्कृति व सभ्यतागत संस्कारों से वंचित रखना चाहते थे।

उन दिनों से रायलसीमा का इलाका छोटे-बड़े नवाबों व सरदारों के वश में था। तल्लिकोट युद्ध के बाद कड़पा पठान नवाब के वश में आ गया था। गुरमकोण्ड दुर्ग, पुंगनूर दुर्ग, कोकटि, मल्लाल और गंडिकोटा दुर्ग कड़पा नवाब के कब्जे में आ गए। बीजापुर के नवाब ने कर्नूल को अपने अधीन ले लिया था। सिद्धवटम् पर गोलकोण्डा के नवाबों का शासन था। दूसरी तरफ मराठों ने पुंगनूर पर आक्रमण किया। इस कारण से पूरे इलाके में राजनीतिक दृष्टि से अस्थिरता थी। यह वह समय था जब कि रायलसीमा की जनता को कई अकालों का सामना करना पड़ा। एक ओर अकालों के कारण जनता को दो जून का खाना मयस्सर नहीं होता था, तो दूसरी ओर मशाल-चोर (तेलुगू में इन्हें दीविटी दोंगलु कहते हैं, जो रातों में मशाल लिए गाँवों में आकर लूट

कर सम्पत्ति ले जाते हैं) और मराठी सेना का समय-समय पर गाँव पर धावा बोल कर धन ले जाना आम बात-सी हो गई थी। इस तरह जनता आतंकित थी।

17वीं सदी के प्रारम्भिक दिनों से सदी के अन्त तक ईसाई पादरी लोगों ने रायलसीमा में ईसाई धर्म का जोरदार प्रचार किया। कर्नाटक मिशन के अधीन रहकर जेसूइ पादरी लोगों ने हिन्दू संन्यासियों की तरह वेष धारण कर प्रचार करते हुए प्रमुखतः ब्राह्मण, रेड्डी और वेलम आदि उच्च वर्ग के लोगों का और निम्न जाति के लोगों का भी धर्मांतरण किया। लेकिन विश्व कर्म जाति के लोगों को पादरी लोग अपनी ओर अधिक आकृष्ट नहीं कर सके। ईसाई मिशनरियों से मुकाबला करने के लिए समय-समय पर शैव और वैष्णव लोग भी एक होते रहे। ईसाई पादरियों ने लिखा है कि उन दिनों हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदाय के लोगों ने मिलकर 'तत्त्ववादी' नामक एक संघटन बना कर ईसाइयत के प्रचार का मुकाबला किया। रायलसीमा में उन्हीं दिनों उच्च वर्ग एवं ईसाई पादरियों के मुकाबला करने एवं अपनी अलग सांस्कृतिक अस्मिता बनाए रखने के लिए लुहार, बड़ई, सुनार, कंसेरा और शिल्पकार, ये 5 जाति के लोग संघटित हुए जो 'पंचाणम्' के नाम से अभिहित हुए। और इनके सामूहिक जाति का नाम विश्वकर्म पड़ा। ये विश्व ब्राह्मण भी कहलाए। इसी विश्व ब्राह्मण जाति में पैदा हुए वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी ने अपने तत्त्वों के प्रचार से ब्राह्मणेतर, पंचाणम् और सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित जातियों में आत्म सम्मान व कर्मठता का भाव फूँक दिया। उस समय रायलसीमा में वैष्णव, शैव, मध्व व स्मार्त सम्प्रदाय के लोग अपने वर्चस्व की स्थापना के लिए बड़े-बड़े मठों की स्थापना कर धार्मिकता का प्रचार करते रहे। इन मठों में पुष्पगिरि, संगमेश्वरम्, अहोबिलम्, श्रीशैलम आदि प्रमुख रहे। वीरब्रह्मम् ने इन ब्राह्मण मठों का मुकाबला करते हुए जगह-जगह पर विश्व ब्राह्मणों के मठों का निर्माण किया, जिनके द्वार सब के लिए खोल दिए गए जहाँ जाति, धर्म या लिंग के भेद-भाव के बिना हर कोई दीक्षा ले सकता है, दार्शनिक तत्त्वों के माध्यम से जीवन की सार्थकता प्राप्त कर सकता है। वीरब्रह्मम् के शिष्यों में 'सिद्ध्य्या' और 'कक्कय्या' की बड़ी प्रसिद्धि हुई जो कि क्रमशः जुलाहा-मुसलमान और चमार जाति के थे। वीरब्रह्मम् के समय में अनेक अनुयायी बने, उनसे दीक्षित होकर इन्होंने वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी के तत्त्वों का निम्न जाति व पददलित जाति की जनता में प्रचार करते हुए अपने दार्शनिक प्रबोधों से उन्हें जाग्रत किया और उनमें आत्म विश्वास व आत्मसम्मान की भावना भर दी जो उस प्रकार के दयनीय दौर में जरूरी था।

तत्त्व या तत्त्व कविता के क्षेत्र में वीरब्रह्मम् की एक और अनुपम देन है, वह है 'कालज्ञानम् तत्त्वों' की रचना। सामान्य तत्त्व-कविताएँ जो मार्मिक तत्त्व भी कहलाते हैं, इनसे भिन्न होते हैं ये कालज्ञानम् तत्त्व। इनकी रचना अलौकिक शक्ति सम्पन्न किसी सिद्ध पुरुष से ही सम्भव होती है। योग साधना, वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी और उनसे दीक्षित सिद्धों की एक अनिवार्य आवश्यकता भी थी। तभी तो वे निगूढ़

दार्शनिक विषयों से सम्बन्धित मार्मिक तत्त्वों एवं कालज्ञान तत्त्वों की रचना कर सके और उनका जन-जन में प्रचार कर सके।

जहाँ तक मार्मिक तत्त्वों का सम्बन्ध है, कहा जाता है कि ये अचल सिद्धान्त और सांख्य दर्शन से सम्बन्ध रखते हैं। सांख्य दर्शन में गुरु की प्रधानता है इन तत्त्वों की अन्यतम विशेषता है पहेलियों में बातें कहना और उलट बाँसियाँ जैसी रचनाओं के माध्यम से निगूढ़ बातों का प्रस्तुतीकरण। मूल रूप से सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष का विवेक कर प्रकृति और पुरुष के भेद के बारे में सम्यक् विचार करता है। इस दर्शन का मुख्य लक्ष्य है जीवन में परम पुरुषार्थ की प्राप्ति। तीन प्रकार के दुःखों से निवृत्ति से ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव है। आधिभौतिक, आधिदैविक और अध्यात्म, ये ही वे तीन प्रकार के दुःख माने गए हैं। सांख्य दर्शन के दूसरे प्रमुख आचार्य विज्ञान भिक्षु माने जाते हैं जिन्होंने सांख्य सूत्र की रचना कर उस पर सांख्य प्रवचन भाष्य भी लिखा। ये 16वीं शती के थे। अब यह शोध का विषय है कि 16वीं शती के इस विज्ञान भिक्षु का कितना प्रभाव 17वीं सदी के हमारे वीरब्रह्मेन्द्र पर और उनके तत्त्वों पर पड़ा है।

जहाँ तक कालज्ञान तत्त्वों का सम्बन्ध है, ये एक प्रकार से भविष्यवाणियाँ हैं। कालज्ञानम् का अर्थ है, समय का ज्ञान। काल के तीन घटक भूत, वर्तमान और भविष्य समाहित हैं। कालज्ञानम् तत्त्व भूत, वर्तमान तथा भविष्य के बारे में ज्ञान प्रदान करता है। प्रख्यात विद्वान और समालोचक राळ्लपल्ली अनन्त कृष्ण शर्मा कहते हैं कि कालज्ञानम् माने भूत को (जो घट गया) भविष्यत् (जो घटनेवाला) के रूप में बताना। जो घट चुका है उसे भविष्य में घटनेवाले के रूप में बता कर आने वाले समय को स्वयं पीछे ढकेल देना है। वे आगे कहते हैं कि तेलुगू में 17वीं सदी के वेमना ने भी कालज्ञानम् की रचनाएँ कीं। तेलुगू के अतिरिक्त कन्नड़ के शैव सिद्धों और विशेषकर बसवेश्वर ने भी कालज्ञानम् की रचनाएँ की हैं। डॉ. सोमनाथ राव डोरनाला ने अपनी पुस्तक 'स्वामी श्री वीरब्रह्मेन्द्र' में लिखा है कि कालज्ञानम् तत्त्व अधिक लोकप्रिय है। जनता के दैनंदिन जीवन में जब कभी कोई अनहोनी घटना घटती है, तब जनता उसे वीरब्रह्मम् द्वारा कहे गए किसी कालज्ञानम् तत्त्वम् से तादात्म्य कर लेती है। कालज्ञानम् के तत्त्व तेलुगू प्रदेश में इतने लोकप्रिय हो चुके हैं कि सामान्य जन भी प्रायः अपनी स्मृति में इन्हें उद्धरित करते रहते हैं। लोगों का दृढ़ विश्वास है कि वीरब्रह्मेन्द्र स्वामी के द्वारा कालज्ञानम् तत्त्वों में कही गई भविष्यवाणियाँ निश्चित रूप में सत्य सिद्ध होती हैं। अब तक कई ऐसी भविष्यवाणियाँ सत्य सिद्ध हो चुकी हैं।

## उत्तर-पूर्व की भाषाएँ

### प्रोपफेसर राजमल बोरा\*

1

हिमालय पर्वत के पूर्वीय छोर पर अरुणाचल प्रदेश है। इसका नामकरण 20 जनवरी 1972 ई. को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने किया है। इससे पूर्व यह प्रदेश अंग्रेजों के समय में नेफा (नार्थ ईस्ट, फ्रंटियर एजेंसी) कहलाता था। क्षेत्रफल की दृष्टि से उत्तर-पूर्व के राज्यों में सबसे अधिक क्षेत्रफल इसी प्रदेश का है। उत्तर-पूर्व में सात राज्य हैं। वे हैं अरुणाचल प्रदेश (83,743 वर्ग कि. मीटर)/ असम (78,438 वर्ग कि. मीटर)/ मेघालय (22,422 वर्ग कि.मीटर)/मिजोरम (21,081 वर्ग कि. मीटर)/नागालैंड (16,579 वर्ग कि. मीटर) / मणिपुर (22,429 वर्ग कि. मीटर) और त्रिपुरा (10,486 वर्ग कि. मीटर)। इन सातों राज्यों में सिक्किम को जोड़ा नहीं गया है। वह भी अरुणाचल प्रदेश की तरह सीमा राज्य है।<sup>1</sup>

2

उत्तर-पूर्व के सात राज्यों में हमारा सब से अधिक परिचय असम से है। पहले ये सभी राज्य असम के अन्तर्गत थे। असम को ही सबसे अधिक प्रसिद्धि मिली है। असम की असमी भाषा आर्य परिवार की है और वह बांग्ला, उड़िया.... आदि भाषाओं की तरह भारत की प्रधान भाषाओं में से है। उसमें विपुल साहित्य है और उसका अपना इतिहास भी है। असमी भाषा पर मुझे इस आलेख में विशेष कुछ कहना नहीं है। असमी को छोड़कर अन्य छः प्रदेशों पर ध्यान केन्द्रित करना है।

3

असम तो एक प्रकार से भारत-भूमि से अधिक जुड़ा हुआ है। ब्रह्मपुत्र नदी इस क्षेत्र की प्रमुख नदी है। गुवाहाटी (असम की राजधानी) इसी नदी के किनारे-किनारे बसा हुआ है। नदी के पुल को पार करने पर ही गुवाहाटी पहुँचा जा सकता है। यातायात की सब सुविधाएँ, असम को प्राप्त हैं। वैसी सुविधाएँ अन्य राज्यों को नहीं हैं। असमपूर्वोत्तर प्रदेशों का हृदय है और केन्द्र में है और दिल्ली से सीधा जुड़ा हुआ

\*पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष औरंगाबाद विश्वविद्यालय

है। पूर्वोत्तर प्रदेश के अन्य राज्यों को वर्तमान स्वरूप बंगला देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद श्रीमती इंदिरा गाँधी के समय में प्राप्त हुआ है। असम के उत्तर-दक्षिण में अन्य राज्य हैं। पूर्वोत्तर के सीमा प्रदेश असम राज्य के उत्तर-दक्षिण में हैं।

4

डॉ. रामविलास शर्मा ने हिमालय की उपत्यका में बोली जाने वाली भाषाओं को नाग भाषाएँ कहा है। तिब्बती-चीनी तथा तिब्बती-बर्मी परिवार नामाकरण ग्रियर्सन ने किया है। नाग भाषा परिवार के उपसंहार में डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं

“चीनी तिब्बती भाषा समवाय के केन्द्र में है तिब्बती-बर्मी भाषा समुदाय। चीन की भाषाओं तथा तिब्बत-बर्मा की भाषाओं में जितनी भिन्नता है, उतनी द्रविड़ और आर्य भाषाओं में नहीं है। भारत की नाग भाषाओं का सम्बन्ध तिब्बत-बर्मी समुदाय से है, चीन की भाषाओं से नहीं। तिब्बत-बर्मी-समुदाय बृहत्तर भाषाई क्षेत्र भारत के अन्तर्गत वैसे ही है जैसे दक्षिण-पूर्वी एशिया की भाषाएँ हैं। नाग भाषाएँ मूल आर्यभाषा क्षेत्र को उत्तर और पूर्व की ओर से घेरे हुए हैं। वे परिवृत्त की आर्यभाषाओं को प्रभावित करती रही हैं, उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर उन भाषाओं से उनका सम्पर्क रहा है, जिनसे आगे चलकर इंडोयूरोपियन परिवार का निर्माण हुआ। आर्य-क्षेत्र के परिवृत्त की भाषाएँ होने के कारण द्रविड़ और कोल भाषाओं से उनका सम्बन्ध था और इन तीनों भाषा समुदायों में अनेक समानताएँ हैं। नाग भाषाओं में द्रविड़-कोल परिवारों के समान, यथेष्ट विविधता है। द्रविड़-कोल भाषाओं के समान ही उनमें यथेष्ट आर्य भाषा तत्त्वों का समावेश हुआ है।”<sup>2</sup>

5

हिमालय पर्वत की श्रेणियों को जो कश्मीर से अरुणाचल प्रदेश की सीमाओं तक हैं, प्रधान रूप से चार भागों में विभाजित रूप में देखा जा सकता है। ये सभी शृंखलाएँ उत्तर से पूर्व की ओर बढ़ते हुए कमान बनती हैं। पश्चिम का सिरा हिन्दुकुश के पास है और पूर्व का सिरा अरुणाचल प्रदेश के अन्त में है। इनमें सब से ऊपर की हिम-शृंखला में लद्दाख है, तिब्बत है। इस शृंखला को कैलाश शृंखला कहा गया है। मानसरोवर भी इसी क्रम में है। भारत की सीमाओं को छूती हुई यह शृंखला आगे बढ़ती है। ब्रह्मपुत्र नदी इसी शृंखला से निकलती है और पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है। अरुणाचल प्रदेश के बाद में इस नदी का आगमन चीन होते हुए अरुणाचल प्रदेश में दक्षिण में होता है। पासीघाट तक इसके पाट का विस्तार हो जाता है। अरुणाचल प्रदेश के बाद नदी का प्रवेश असम में होता है। असम की घाटी से यह नदी पुनः पूर्व से पश्चिम की ओर बहने लगती है। नदी का उत्तरी भाग अरुणाचल प्रदेश में है।

गुवाहाटी से आगे बढ़कर इसका बहाव गंगाजी की ओर होता है। और बाद में बंगाल की खाड़ी में लुप्त हो जाती है। असम से नीचे की ओर यह नदी नहीं जाती। म्यांमार की ओर उत्तर से दक्षिण की ओर बहने वाली नदियों में प्रधान नदी इरावती नदी है। और भी कई नदियाँ हैं। यों देखा जाए तो असम उत्तर-दक्षिण की पूर्व शृंखलाओं के बीच की घाटियों में बसा हुआ प्रदेश है। दक्षिण में और पूर्व में घना जंगल है।

6

कैलाश शृंखला के बाद लद्दाख शृंखला है। इस लद्दाख शृंखला के बाद में हिमालय की बड़ी शृंखला है। इस बड़ी शृंखला के बाद में शिवालिक शृंखला है। यह भूतान तक चली आती है। ऊपर की दोनों शृंखलाएँ हिमालय के उस पार की शृंखलाएँ हैं। हिमालय की बड़ी शृंखला बीच में है। शिवालिक शृंखला दक्षिण में है। बड़ी हिमालय और शिवालिक के बीच में और छोटी-छोटी शृंखलाएँ हैं। इन शृंखलाओं के बीच में घाटियाँ हैं। हिमालय का उत्तरी भाग हिममय है। बर्फीला प्रदेश है। आवागमन की सुविधाएँ आज भी नहीं हैं। उत्तरी भाग तो सीमा प्रदेश है। वहाँ रहना कठिन है। कैलाश शृंखला और शिवालिक शृंखलाओं को पार करने के बाद ही मैदानों में प्रवेश होता है। उत्तर में तिब्बत और चीन हैं। दक्षिण में उत्तर प्रदेश, कश्मीर-जम्मू आदि हैं। इनमें कश्मीर तो घाटियों में बसा हुआ है। यों प्राकृतिक रूप से हिमालय रमणीय है और साहसी लोग देश-विदेश से पहुँचते ही हैं। अरुणाचल प्रदेश भी इसी तरह रमणीय है।

7

असम के उत्तर में अरुणाचल प्रदेश है। और दक्षिण तथा पूर्व में अन्य छोटे-छोटे प्रदेश हैं। असम की घाटी में पानी ही पानी है। वर्षा यहाँ बहुत होती है। बाढ़ मुक्त प्रदेश नहीं है। ब्रह्मपुत्र नदी इसकी घाटी में जब दक्षिण की ओर न बढ़कर पूर्व से पश्चिम में बहने लगती है तो वह घने जंगलों से गुजरती है। पशुओं की बहुतायत है। इन्हीं में काजीरंगा है। गुवाहाटी से निकट है। मैं जब गुवाहाटी विश्वविद्यालय में किसी संगोष्ठी हेतु पहुँचा था, उस समय वहाँ डॉ. श्रीधर सिंह विभाग में थे और उनके सहयोगी डॉ. धर्मदेव तिवारी थे। उस समय एक रात विश्वविद्यालय के अतिथि भवन में ठहरा था। मुझे कमरा मिल गया था। वहाँ पर और भी कई अतिथि थे जो काजीरंगा जाने की योजना बना रहे थे। मुझसे भी कहा था किन्तु मैं नहीं गया। देखने की बात है और अवश्य देखना चाहिए। मैं तो नगर देखकर और अपना काम करके पुनः लौट गया। जाते और आते ब्रह्मपुत्र का दृश्य पुल से गुजरते हुए देखा है। असम की घाटी से गुजरा हूँ। गंगाजी को पार कर आया हूँ। वैसे ही पुनः लौटा हूँ। जो कुछ देखा उससे प्रकृति के विराट दर्शन हुए हैं। अपने आप में सुखद है। असम तो ठीक है। अन्य प्रदेश तो वन-कान्तारों में हैं। पर्वतों के ढलानों पर हैं। आवागमन के मार्ग नहीं हैं।

मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड, मणिपुर और त्रिपुरा सब एक प्रकार से असम के दक्षिण में हैं। इन सब प्रदेशों में पर्वतीय भाषाएँ हैं। आबादी और गाँव कबीलों में बँटे हुए हैं। ये सब विभिन्न जनजातियों में अपने-अपने गाँवों में बसे हुए हैं। एक गाँव की भाषा दूसरे ग्रामवासी जानते नहीं। बोलियों की बहुतायत है। इनके व्यवसाय वनों से जुड़े हुए हैं। वही काम करते हैं। अलग-अलग प्रदेश बनाकर इनको स्वतंत्रता दी गई है फिर भी ये सब आज भी अलगाव की स्थिति में रहते हैं। संपर्क भाषाओं के माध्यम से इन्हें जोड़ने के प्रयास जारी हैं। यहाँ पर ईसाई मिशनरियों ने बहुत काम किया है। और हिन्दी भाषा भी वहाँ पहुँच गई है। असम ही पहले इन सब का केन्द्र था किन्तु अब ये सब दिल्ली से जुड़ गए हैं। शिलांग (मेघालय)/कोहिमा (नागालैण्ड)/आईजेल (मिजोरम)/ मणिपुर का इम्फाल और त्रिपुरा का अगरतला अब सब सीधा दिल्ली से सम्पर्क रखते हैं। अरुणाचल प्रदेश की स्थिति इन सब प्रदेशों से अलग है क्योंकि वहाँ अब भारतीय सेना सुरक्षा के कारणों से कश्मीर की तरह रहती है। आवागमन की सुविधाएँ बढ़ाई जा रही हैं। अलग-अलग प्रदेशों में विश्वविद्यालय स्थापित हो गए हैं और वहाँ पर स्थानीय भाषाओं को पढ़ाने की व्यवस्था हुई है और हो रही है।

8

इन प्रदेशों की भाषाओं में एकरूपता नहीं है। लिखित साहित्य बहुत कम है। भाषाओं के नामकरणों पर ध्यान दें तो असमी, मणिपुरी, मिजो कुछ गिनती की भाषाएँ भूगोल से जुड़ी हुई हैं। अन्य भाषाओं के नामकरणों में जनजातियों के नाम हैं। एक ही प्रदेश में अनेक जनजातीय भाषाएँ हैं। इनका वर्गीकरण करने का प्रयास ग्रियर्सन ने किया है। वह प्राथमिक स्तर का होने पर भी काफी दिलचस्प और तथ्यात्मक है। ग्रियर्सन ने इन भाषाओं को तिब्बत चीनी परिवार, स्याम चीनी उपपरिवार और तिब्बत-बर्मी उपपरिवार के अन्तर्गत रखा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इन्हें नाग परिवार कहा है। इन भाषाओं में विविधता है। इन भाषाओं के इतिहास को पहचानने के प्रयत्न हुए हैं। आर्य परिवार में जैसे एक-दूसरी भाषा में एकरूपता जोड़ने वाले सूत्र मिलते हैं वैसे नाग परिवार की भाषाओं को एकसूत्रता में जोड़ने के आधार नहीं मिलते। आर्य परिवार के परिवृत्त में व्याप्त ये विविध भाषाएँ हैं। और फिर ये सब कबीलों की भाषाएँ हैं। गुवाहाटी (असम) पूर्व में इन भाषाओं का मिलन-स्थल रहा है। इसलिए इनके अलगाव की समस्याओं से असम आज भी जूझ रहा है। बोडो, गारो-जैसी भाषाएँ बोलनेवाले समुदाय अपने अलग अस्तित्व के लिए जूझ रहे हैं। आतंकवाद फैलने का एक कारण अपने-आप में स्वयं भाषा भी है। नागालैण्ड-मणिपुर ही नहीं अन्य प्रदेश भी अपनी-अपनी भाषाओं के बल पर स्वतंत्र समुदायों में विभक्त हैं और इन समुदायों की जनजातियों में अलगाव है। जनजातियों के अलगाव के कारण भाषाओं

और उनसे जुड़ी सभ्यताएँ हैं। सम्पर्क भाषाओं का विकास जब तक नहीं होता तब तक अलगाव की समस्याएँ बनी रहेंगी और इससे आतंक की स्थितियों का उद्भव भी होता रहेगा।

9

माताप्रसाद ने अरुणाचल प्रदेश पर 'मनोरम भूमि अरुणाचल प्रदेश' पुस्तक लिखी है। पुस्तक इस प्रदेश का परिचय देती है। ऐसी पुस्तकें मुझे किसी दूसरे प्रदेशों के सम्बन्ध में इस स्तर की नहीं मिलीं। उन्होंने 24 जनजातियों का उल्लेख किया है। जनजातियों में भी ये 24 जनजातियाँ प्रमुख हैं। शेष और भी हैं। मैं जनजातियों के नाम लिख रहा हूँ। माताप्रसाद ने इन जातियों का परिचय देते समय आरम्भ में जाति की विशेषता बतलाने वाले दोहे लिखे हैं। अतः नाम के साथ-साथ उक्त दोहे भी लिख रहा हूँ

1. **मोंपा जनजाति** : बुद्ध धर्म है 'मोंपा', दिखे सभी गोरंग।  
श्रद्धा से पूजा करें, मोनेस्ट्री तवांगा। [पृ. : 201]
2. **शेर दुक्पेन जनजाति** : जाति 'शेर दुक्पेन' दे, हस्तकला कृषि ध्यान।  
शेरगाँव, रूपा बसे, बौद्ध धर्म है माना।  
[पृ. : 205]
3. **अका (हुसो) जनजाति**: काले रंग, चेहरा रंगे, अका हुसो बड़ केस।  
गोर स्वस्थ-तन मानते, नग-सरि, जीवन शेषा।  
[पृ. : 209]
4. **बुगुन (खोवा) जनजाति** : श्वेत वसन तन 'बुगुन' या 'खोवा' की पहचान।  
वर-पितु दे कन्या पिता, शादी में धन-धाना।  
[पृ. : 213]
5. **मिजी (धम्मई) जनजाति** : 'मिजी/धम्मई' पहनते, श्वेत वसन कटि छानि।  
वही रंग टखला बँधे, मूंगा जड़े सुहानि।  
[पृ. : 219]
6. **सूलुंग जनजाति** : घर पहाड़ की ढाल पर, रखते तीर कमान।  
हस्त कला 'सूलुंग' कुशल, रहते निशि समान।  
[पृ. : 222]
7. **तागिन जनजाति** : कटि में छल्ला बेंत का, 'तागिन' करे शिकार।  
बिन विवाही युवती पहन, गोल टोप, गलहार।  
[पृ. : 224]
8. **हिलमिरी जनजाति** : हिलमिरी पर्वत रहें, कर में तीर-कमान।  
चमड़ा झोला, पीठ पर, उसमें रखें समान।

9. **खंबा (मेंबा) जनजाति** : धर्म-वसन, सम *मोंपा*, 'खंबा / मेंबा' नारि।  
कमर बंद पत्थर जड़े, सुघर दिखें वह धारि॥  
[पृ. : 227]
10. **निशि या निशिंग जनजाति** : 'निशि' बहादुर जाति है, रखें कमर में दाव।  
जूड़े पर तीली लगी, नोक दिखे हो घाव॥  
[पृ. : 230]
11. **बैंगनी जनजाति** : ऊँचे बसे झूमिंग करे, बड़े 'बैंगनी' बाल।  
युवा नारि गुदना गुदे, है आभूषण भाला॥  
[पृ. : 232]
12. **आपातानी जनजाति** : *आपातानी* निज धान सँग, मछली लें उपजाय।  
मुख नारी गुदना गुदे, कुशल करें व्यवसाय॥  
[पृ. : 236]
13. **आदी जनजाति और उसकी उपजातियाँ** : 'आदी-जन' उपजातियाँ घाटी बसी *सियाँग*।  
*आसिंग*, *शिमोड*, *पदम* अरु, *मिनियोंग* *गैलांग*॥  
[पृ. : 243]
14. **मिशमी जनजाति** : तीन भाँति *मिशमी* यहाँ, पहला ईदू जान।  
*मीजू* और *दिगारु* दो, भाषा से पहचाना॥  
[पृ. : 251]
15. **खामती जनजाति** : बुद्ध धर्म के 'खामती' खेती कर भरपूर  
चारि पुरुष, जैकेट सजें, लुंगी है मशहूर॥  
[पृ. : 255]
16. **सिंग्फो जनजाति** : बर्मा से आ सादिया, शासक बने महान।  
चांगलांग वह *सिंहको* बौद्ध धर्म हैं माना॥  
[पृ. : 257]
17. **फकियल जनजाति** : ताई *फाके* नाम था, बर्मा से वह आय।  
युवा-युवति निज गीत में, प्रश्नोत्तर दें गाया॥  
[पृ. : 259]
18. **तांगसा जनजाति** : लुंगी काले रंग कटि, वसन नारि तन श्वेत।  
कद छोटा कुछ *तांगसा*, कार्य कुशल हैं वेत॥  
[पृ. : 260]
19. **त्युत्सा जनजाति** : जाति नोक्टे की यहाँ, 'त्युत्सा' एक कहाय।  
सुत-हित पितु, कर मांगता, सुता पिता घर जाय॥

20. **वांचू जनजाति** : वीर शिकारी 'वांचू' इज्जत है सरदार।  
पंचायत जो तय करे, सबको है स्वीकारा॥  
[पृ. : 263]
21. **नोक्ते जनजाति** : स्वेत वसन, तन *नोक्ते*, मिल सब रहें समाज।  
नामसांग-बरदूरिया, फंड बहुत दे काज॥  
[पृ. : 267]
22. **मिरी या मिसिंग जनजाति** : *मिसिंग/मिरी* मंगोल कुल, पूजे प्रकृति स्वरूप।  
युवा-युवति, साथी चुनें, अपने मन अनुरूप॥  
[पृ. : 269]
23. **देवरी** : सरि-तट बसि मछली पकड़ि 'देवरी' कर कृषि काम।  
नारि पुरुष हैं मेहनती, बिहू नृत्य है काम॥  
[पृ. : 272]
24. **लीसू (थोबिन)** : अरुणाचल सरहद बसे, आ बर्मा, सुखमान।  
चौड़ी पेटी बाँधते, लीसू/थोबिन जाना॥  
[पृ. : 274]

## D

माताप्रसाद ने इन जातियों का परिचय भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से दिया है। इन सब जातियों के आधार पर इनकी भाषाएँ भी अलग-अलग होनी चाहिए किन्तु इन भाषाओं के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं लिखा। *खामती जनजाति* की भाषा का परिचय डॉ. विजय राघव रेड्डी ने दिया है। 'बौद्ध खामती और उनकी रामायण' का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है

“खामती जनजाति के लोग बौद्ध हैं। खाम का अर्थ स्वर्ण और ति का अर्थ देश होता है। इस प्रकार खामती का अर्थ हुआ स्वर्ण देश के लोग। खामती जाति अहोम की प्रशाखा मानी जाती है। इतिहास बताता है कि अहोम वंश के राजा राजेश्वर सिंह (1751-1769 ई.) के समय खामती लोगों ने बर्मा के रास्ते असम में प्रवेश किया। उस राजा की अनुमति पाकर 18वीं सदी के मध्य में अपर असम में तेंगापानी नदी के किनारे 'नामसुन' स्थान पर खामती लोगों ने अपना प्रथम आवास बनाया था। इसके बाद से आगे के सौ साल तक खामती लोग कई दलों में आकर असम में बसते रहे। खामती रणबाँकुरे होते हैं। जब अहोम राज्य कमजोर पड़ गया तो उन्हें खामती लोगों की सहायता लेनी पड़ी थी। इसलिए तत्कालीन अहोम राजा ने 1795 ई. में खामती के मुखिया चाउ-मुमडलुड

को सदिया प्रान्त का सूबेदार बनाया था। शौर्य की दृष्टि से खामती सम्पन्न है। संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से भी वे अधिक सम्पन्न हैं। *खामती* भाषा की अपनी लिपि है जो *ताई लिपि* कहलाती है। खामती साहित्य समृद्ध है। उसमें पिटक, जातक कथाएँ, रामायण, महाभारत एवं ऐतिहासिक दस्तावेजों का भण्डार है। अरुणाचल प्रदेश के चाङलाङ, जिले के खोमोङ स्थान पर जो सदिया के निकट है, 1969 ई. में पुरातत्त्व विभाग के द्वारा जो खुदाई की गई, उसमें से जो स्तूप, बुद्ध की प्रतिमाएँ आदि बहिर्गत हुए हैं। उनसे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि खामती संस्कृति, सभ्यता कितनी भव्य रही थी।”<sup>3</sup>

खामती भाषा अरुणाचल प्रदेश की भाषा है। उसकी लिपि भी है फिर भी लगता है, उसको अधिक व्याप्त नहीं मिली। उत्तर-पूर्व की भाषाओं में सब से अधिक प्रसिद्धि तीन भाषाओं को मिली है और वे हैं असमी, बोडो और मणिपुरी। इन तीन भाषाओं में असमी को तो पहले ही 14 भाषाओं में स्वीकार कर लिया गया था। बाद में क्रमशः आठ भाषाओं को और भी मान्यता मिली है। आज बाईस भाषाओं को साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता मिल गई है। वे आठ हैं कोंकणी, मणिपुरी, नेपाली, सिंधी, मैथिली, संथाली, बोडो और डोगरी। इन आठ भाषाओं में उत्तर पूर्व की भाषाओं में *बोडो* और *मणिपुरी* हैं।

## II

### बोडो

डॉ. विजयराघव रेड्डी ने *‘भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में बोडो समूह की भाषाओं का साहित्य* (भाषा, नवम्बर-दिसम्बर 2004 में प्रकाशित) लम्बा लेख लिखा है। बोडो भाषा को साहित्य अकादेमी ने 1997 ई. में ‘भाषा सम्मान’ दिया है। उत्तर-पूर्व की समस्त जनजातियों की भाषाओं को 6 समूहों में बाँटा गया है और उनके बोलनेवालों की जनसंख्या 1971 की जनगणना के आधार पर दी गई है। वे हैं

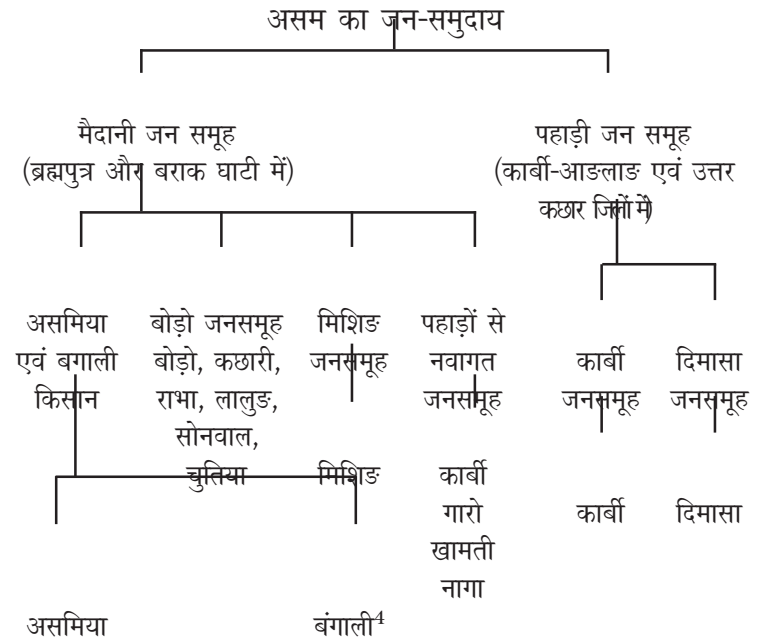
1. भोटिया समूह : 10,339
2. मिरी समूह : 1,03,188
3. बोडो समूह : 16,49,962
4. नागा समूह : 1,55,416
5. कुकि-चिन समूह : 14,97,614
6. बर्मी समूह : 12,791

इन छः समूहों की भाषाओं की संख्या 54 बतलाई गई है। अकेले बोडो समूह में जिनके बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है, 12 भाषाएँ हैं। वे निम्नलिखित

हैं

1. बोडो : 5,09,006
2. गारो : 4,11,532
3. त्रिपुरी : 2,68,948
4. कार्बी : 1,18,973
5. रियाङ : 74,931
6. सभा : 51,128
7. दिमासा : 38,208
8. कछारी : 34,669
9. जमातिया : 22,446
10. देउरी : 14,937
11. कोछ : 13,842
12. लालुङ : 10,650

असम के जनसमुदाय में बोडो समूह की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए डॉ. विजयराघव रेड्डी ने तालिका दी है। भाषाओं के उपविभाग किए हैं। तालिका इस प्रकार है



डॉ. विजयराघव रेड्डी ने बोडो समूह की भाषाओं का परिचय देते हुए बतलाया है कि इस भाषा-समूह की भाषा असम में अहोम राजाओं के आगमन से पूर्व रही हैं यों कहिए कि असम की ये भाषाएँ मूल में हैं। ये जनजातियाँ संप्रति अपने को ऐतिहासिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, भाषिक और साहित्यिक दृष्टि से अपना अलग अस्तित्व चाहती हैं। तदर्थ वे प्रयत्नशील हैं। अन्य कारणों में भाषा भी एक कारण है। इस समुदाय के लोग असम, मेघालय और त्रिपुरा राज्य में फैले हुए हैं। ये मैदानी इलाकों तथा पहाड़ी इलाकों में भी रहते हैं। बोडो की तरह गारो भी और अन्य भाषाएँ हैं ऊपर जो बारह भाषाएँ बतलाई गई हैं, उनमें बोडो भाषियों की संख्या अधिक है। अन्य ग्यारह भाषाओं वाले बोडो को महत्व देते हैं। इसलिए उनका समूह बड़ा हो गया है। और वे अपने अलग अस्तित्व के लिए लड़ रहे हैं।<sup>5</sup>

डॉ. रामविलास शर्मा ने नाग भाषाओं में *बोडो* और *गारो* दो भाषाओं पर विचार किया है। इन भाषाओं के ध्वनितंत्र तथा शब्दतंत्र और रूपतंत्र पर भी विचार किया है। उन्होंने विशेष रूप से आर्य भाषा परिवार की विशेषताएँ इन भाषाओं में दिखलाई हैं। द्रविड़ भाषाओं के ध्वनितंत्र और शब्दतंत्र से नाग भाषाओं की तुलना की है। हिमालय की उपत्यका की ये भाषाएँ हैं जो उत्तर-पूर्व के मैदानों में पहुँच गई हैं।

## मणिपुरी

जैसे बोडो भाषा को स्वतंत्र प्रदेश न होने पर भी साहित्य अकादेमी से स्वतंत्र भाषा का सम्मान प्राप्त हुआ है। वैसे ही मणिपुरी को भी सम्मान मिला है। मणिपुर भौगोलिक नाम है वह पूरे प्रदेश का नाम है और भाषा का नाम भी है। उस राज्य में अन्य भाषाएँ होने पर भी मणिपुरी प्रधान भाषा है। मणिपुर की राजधानी इम्फाल है। असम का जैसे भारतीय भाषाओं से सम्बन्ध रहा है, वैसे ही मणिपुर से भी रहा है। मणिपुर विश्वविद्यालय कांचीपुर, इम्फालमें हिन्दी विभाग है। उक्त विभाग में देवराज और उनके सहयोगी डॉ. जगमलसिंह और डॉ. इबोदल सिंह काडलम ने मणिपुर : *विविध संदर्भ* पुस्तक लिखी है। इसका प्रथम संस्करण 1988 ई. में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशन विभागीय है। विभाग में हिन्दी परिषद है जो हिन्दी का काम करती रही है। 1985 से 1988 ई. के बीच सात शोध-छात्रों को पी-एच.डी. की उपाधि मिल गई है। शोध-हेतु स्वीकृत शोध विषयों को (26 छात्रों को) स्वीकृति मिली है। मणिपुरी

से हिन्दी में अनुवाद का कार्य भी हुआ है। और भी पुस्तकों का प्रकाशन कार्य जारी है। देवराज ने इन सब की सूची दी है।

असमी भाषा के समान मणिपुरी को प्रसिद्धि न मिलने पर भी उत्तर-पूर्व की भाषाओं में मणिपुरी ही ऐसी भाषा है, जो भारतीय आर्य भाषाओं और उनके साहित्य से अधिक जुड़ी हुई है। मणिपुरी को डॉ. महेन्द्रनाथ दुबे ने अध्ययन का विषय बनाया है। उनकी पुस्तक का नाम है *पूर्वोत्तर भारतीय भाषाओं के सर्वनाम (हिन्दी, बांग्ला, असमिया, मैथिली मणिपुरी और उड़िया)*। सभी आर्य परिवार की भाषाओं के साथ मणिपुरी को भी रखा गया है। मणिपुरी का भौगोलिक विस्तार त्रिपुरा, बंगलादेश के सिलहट असम में भी यह व्याप्त है। असम की तरह यह प्रदेश भारत के अन्य भागों से जुड़ा हुआ नहीं है। असम के मार्ग से ही भारत के अन्य भागों में पहुँचना पड़ता है। बीच में बंगलादेश आ जाता है। असम और बिहार को जोड़ने वाला मार्ग बहुत संकरा है। वह तिनसुकिया ट्रेन के गुजरनेवाला मार्ग ही है। बंगाल के कुछ हिस्सों से (सिलिगुड़ी वाले मार्ग से) गुजरने के बाद बिहार में गाड़ी पहुँचती है बंगाल का मार्ग संकरा है। इसी मार्ग से उत्तर-पूर्व के प्रदेश सीधे भारत से जुड़े हुए हैं। इसी मार्ग से पहले असम और वहाँ से फिर अन्य प्रदेशों में आवागमन संभव है। असम की सीमाओं से सभी प्रदेश जुड़ते हैं। उत्तर-पूर्व में अरुणाचल प्रदेश है। उसके बाद दक्षिण-पूर्व में नागालैण्ड है। नागालैण्ड से लगा मणिपुर है। मणिपुर के पश्चिम में असम ही है। असम का दक्षिणी भाग त्रिपुरा और मिजोरम दोनों से सीधा जुड़ा हुआ है और दक्षिणी भाग तो मेघालय है, जो बंगलादेश से जुड़ा है। (देखिए मानचित्र) असम के उत्तर-पश्चिम में भूटान है। मेघालय से उत्तर में पश्चिम का मार्ग ब्रह्मपुत्र का मार्ग है। नदी मेघालय के उत्तर में पूर्व से पश्चिम की ओर बहती है।

मणिपुरी, मणिपुर की प्रधान और राज्यभाषा हो गई है। उसे संविधान में स्वीकृति मिल गई है। मणिपुरी का प्राचीन इतिहास भी है। यह इतिहास ग्रियर्सन ने दिया है। उसने मणिपुरी को मेईथेई भाषा के नाम से लिखा है

“मनिपुरी लोगों का उल्लेख सन् 777 ईसवी से शान लोगों के इतिहास में मिलता है। अतः बाद में मनिपुरी साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुई, अतः आधुनिक मनिपुरी में पुरानी भाषा की झलक मिलती है। इसकी अपनी लिपि भी है जो आज से दो सौ वर्ष पूर्व बंगाल से आई थी। इसी लिपि में इस

राज्य के अनेक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे गए हैं। इनकी सबसे पुरानी सामग्री सन् 1433 ई. तक की है। अब पुरानी लिपि समाप्त हो चुकी है और उसके स्थान पर आधुनिक बंगला लिपि का व्यवहार होने लगा है। ऐतिहासिक ग्रंथों की भाषा भी अब पुरानी पड़ गई है और इसे विज्ञ लोग ही पढ़ पाते हैं।<sup>6</sup>

मेइथेई ही आधुनिक मणिपुरी है। इस भाषा का साहित्य और इतिहास उपलब्ध न होने पर इस प्रदेश को स्वतंत्र स्थान मिलने में विलम्ब हुआ। नागालैण्ड को मान्यता 1963 ई. में मिल गई। दक्षिण में मिजोरम और उत्तर में नागालैण्ड दोनों के बीच मणिपुर है। पूर्व में देश की सीमा है।

## 17

आज तो मणिपुर की भाषा *मणिपुरी* को साहित्य अकादेमी ने साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकृति दी है। दूसरी बात यह कि मणिपुर के विश्वविद्यालय को केन्द्रीय विश्वविद्यालय घोषित कर दिया गया है। मणिपुर राज्य की सारी उन्नति 1972 ई. के बाद की है। उसी वर्ष उसे पूर्ण राज्य घोषित किया गया था।

## 18

### नागालैण्ड : नगामीज/नगामी

नागालैण्ड की स्थापना 1963 में हुई। वहाँ अनेक जनजातीय भाषाएँ हैं। असम के पड़ोस में पूर्व की ओर यह प्रदेश है। नगामी अनेक जनजातीय भाषाओं के बीच नई सम्पर्क भाषा बन गई है। डॉ. जगमन सिंह ने नगामी भाषा के सम्बन्ध में लिखा है

“असम नागालैण्ड का पड़ोसी राज्य है और नागा जनजातियों का असमी भाषा से सम्पर्क बहुत पुराना है। नगामीज भाषा में 50 प्रतिशत शब्द असमी भाषा से आए हैं। नागालैण्ड की राज्य भाषा इंग्लिश है इसलिए नगामीज भाषा पर इसका प्रभाव भी बढ़ता जा रहा है। और अंग्रेजी शब्द भी नगामीज में आ रहे हैं। असमी के पश्चात् नगामीज की शब्दावली में हिन्दी शब्द दूसरे स्थान पर और अंग्रेजी शब्द तीसरे स्थान पर अन्य भाषाओं के शब्दों का आगमन हुआ है।

जार्ज ग्रियर्सन ने नगामीज को असमी का टूटा-फूटा रूप माना है। जबकि भाषा वैज्ञानिक एम. वी. श्रीधर ने इसको ‘पिजन’ (Pidgin) भाषा कहा है। पिजन भाषा से तात्पर्य है वह भाषा जो सरल या संशोधित रूप में अन्य भाषा-भाषियों द्वारा बोली जाती है, जिनकी भाषा एक नहीं होती। नगामीज

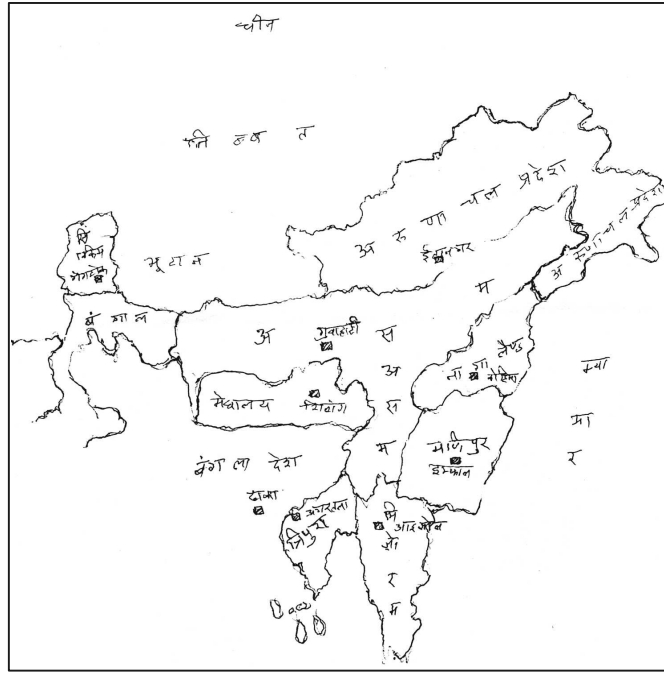
भाषा नागा तथा अनागा, असमी, हिन्दी, बांग्ला आदि के लिए संपर्क भाषा का दायित्व निभाती है। नगामीज भाषा का प्रयोग शिक्षित एवं अशिक्षित लोग भी करते हैं। नागा जनजातियों के सशस्त्र संघर्ष तो लगभग समाप्त हो गए हैं। किन्तु परस्पर संघर्ष एवं अविश्वास की भावना तो आज भी पाई जाती है जिससे उनके मन में असुरक्षा की भावना पाई जाती है। प्रजातीय पहचान बनाए रखने के लिए वे नगामीज को अपनी भाषा मानने को तैयार नहीं हैं। डॉ. अजीत कुमार वैश्य के अनुसार नागामीज एक अनाथ भाषा है, जो नागालैण्ड की सम्पर्क भाषा होते हुए भी सम्मान की अधिकारी नहीं है। अंग्रेजी के राज्य भाषा होने के कारण नगामीज का परित्याग भी संभव नहीं है। यह विचित्र स्थिति है कि बोलनेवाले लोग ही उस भाषा को अपनी भाषा स्वीकार नहीं करते।<sup>7</sup>

## 19

नागालैण्ड की राजधानी कोहिमा है। कोहिमा में नागालैण्ड भाषा परिषद में देवनागरी लिपि में उत्तर-पूर्व के प्रदेशों की भाषाओं को लिखने, छपवाने के प्रयत्न हुए हैं। इस भाषा परिषद में उसके सचिव ब्रज बिहारी कुमार ने बहुत काम किया है। इस परिषद के प्रकाशनों में भारत सरकार की ओर से निरन्तर सहयोग मिलता रहा है। आज तो ब्रजबिहारी कुमार दिल्ली में हैं। *आस्था भारती* के सचिव हैं। इस समय वे *Dialogue डायलॉग* त्रैमासिक का सम्पादन कर रहे हैं। डायलॉग के अब तक 6 वर्ष पूरे हो गए हैं। सातवें वर्ष का प्रथम अंक भी छप गया है। लगता है, वे अब भाषा परिषद का कार्य किसी को सौंप कर दिल्ली आ गए हैं। उन्होंने *चिन्तन-सृजन* का सम्पादन भी हिन्दी में आरम्भ कर दिया है। तीसरे वर्ष का एक अंक छप रहा है। उत्तर-पूर्व की भाषाओं पर उन्होंने विपुल कार्य किया है और औरों से करवाते रहे हैं। तदर्थ कोश, तैयार किये हैं, व्याकरण लिखवाया है और लोक कथाओं के संग्रह देवनागरी में छपवाए हैं और सब के हिन्दी में अर्थ भी लिखे हैं। मणिपुर की भाषाओं में *कुकी* और *पाइते* भाषाएँ हैं। इन दोनों भाषाओं की लोककथाओं का सम्पादन उन्होंने किया है। पुस्तक के आरम्भ की पंक्तियों में उन्होंने लिखा है

“प्रस्तुत पुस्तक नागालैण्ड भाषा परिषद का 101वाँ एवं हमारे लोक साहित्य पुस्तक माला का पहला प्रकाशन है। इस पुस्तक में कुकी लोक कथाएँ रोमन तथा देवनागरी लिपि में हिन्दी अर्थ सहित दी गई हैं। यह *कुकी भाषा* का तीसरा प्रकाशन है। इसके पहले हम इस भाषा का कोश एवं व्याकरण प्रकाशित कर चुके हैं।<sup>8</sup>





उत्तर-पूर्व भारत

2

## मेघालय : गारो और खासी

मेघालय असम के दक्षिण में पहाड़ी प्रदेश है। यह ब्रह्मपुत्र नदी के दक्षिण में है। दक्षिण का पर्वतीय प्रदेश है। इन पर्वतों की शृंखला ने ब्रह्मपुत्र को पूर्व से पश्चिम की ओर मोड़ दिया है। असम मैदानी घाटी है। जिसके उत्तर तथा दक्षिण में पर्वतीय प्रदेश हैं। हिमालय की उपत्यका की भाषाएँ यहाँ तक पहुँची हैं। बोड़ो भाषा की तरह गारो भी पर्वतीय भाषा है। मेघालय की प्रमुख भाषाएँ गारो और खासी हैं। इन दोनों भाषाओं के कोश नागालैण्ड के भाषा परिषद ने देवनागरी में प्रकाशित किए हैं। प्रो. ब्रजबिहारी कुमार ने लिखा है

“यह (खासी) भाषा मेघालय के खासी पहाड़ी जिले के खासी लोगों की भाषा है। मेघालय में गारो एवं खासी दो प्रमुख भाषाएँ हैं, जिनमें गारो भाषा का कोश हम पहले ही प्रकाशित कर चुके हैं।

इस पुस्तक के शुरू के कुछ सौ खासी शब्दों के देवनागरी लिप्यंतरण में श्री सुरेश प्रसाद सिंह, सहायक शिक्षक, नेशनल स्कूल, कोहिमा ने हमारी सहायता की, जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।”<sup>9</sup>

कोशमाला का यह इकसठवाँ कोश-ग्रंथ है। इसका प्रकाशन 1974 ई. में हुआ है। मेघालय के नामकरण का कारण संभवतः वहाँ वर्षा का अधिक होना है। असम की घाटी में ब्रह्मपुत्र में बाढ़ बहुत आती है। मेघों के बीच में रहने के कारण संभवतः बाढ़ मुक्त रहने में इन लोगों को सहायता मिलती है। मेघालय की पर्वत शृंखला पश्चिम से पूर्व की ओर लम्बी है। राजधानी शिलांग में है। शिलांग में आगरा के हिन्दी संस्थान का केन्द्र है। और कई सेण्ट्रल गवर्नमेण्ट के कार्यालय भी मेघालय में हैं। यहाँ पर हिन्दी भाषा का प्रचलन भी है। अंग्रेजी से अधिक हिन्दी का प्रचलन है। यहाँ बांग्ला भाषा का प्रचलन भी है।

2

डॉ. दिनेश कुमार, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग में हिन्दी विभाग के रीडर हैं। उन्होंने खासी भाषा एवं साहित्य : एक परिचय शीर्षक लेख लिखा है। उन्होंने लिखा है

“पूर्वोत्तर भारत के रमणीय प्रदेश मेघालय में तीन प्रमुख जनजातियाँ हैं खासी, जयंतिया और गारो। खासी जनजाति भाषिक एवं नृतात्विक दृष्टि से आस्ट्रिक के निकट है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका नोमेडिक जनजाति के बाह्नार स्टेडिंग रवा से बहुत दिनों से सम्बन्ध था। कुछ वर्षों बाद एक समूह पश्चिमी क्षेत्र से असम आकर कई क्षेत्रों में बस गया। शेष लोग जो आस्ट्रिक मूल के थे, वे पूरे उत्तर-पूर्वी भारत में फैल गये। खासी अपने मूल क्षेत्र में एक साथ एक समय में नहीं आए। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समय के अंतराल से अपने क्षेत्रों में प्रविष्ट हुए। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि चारित्रिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से खासी मेगालिथिक संस्कृति से प्रभावित हैं। पत्थरों में हड्डियाँ रखना, पत्थरों की आकृति बनाकर रखने की प्रवृत्ति खासी के साथ मानखेर और मुंडा दोनों में है। खासी एवं जयंतियाँ दोनों की मुख्य भाषा खासी है। गारो जनजाति की भाषा गारो है जो मेघालय के गारो पर्वतीय क्षेत्र में बसे हैं। खासी पूर्वोत्तर क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। इस भाग में लोक साहित्य एवं साहित्य पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। यह भाषा मानखेर भाषा से सम्बन्धित है, जो आस्ट्रो एसियाटिक वर्ग की है। खासी शब्द का अर्थ हैखा + सी = खाजन्म, सीप्राचीन माता। इस तरह शाब्दिक अर्थ हैमाता का जन्म। दूसरी मान्यतानुसार प्राचीन माता का नाम था टेंग / उसकी संतान थी सेइटेंग। यहाँ

लोगों के नाम माता के नाम से जुड़े होते हैं और इनका समाज मातृप्रधान है।”<sup>10</sup>

2

### मिजोरम की भाषा मिजो

मिजोरम की भाषा जाननेवाली ललरिंकिमि रेंथली ने, जो इस समय आईजोल में रहती है मिजो भाषा का उद्भव और विकास शीर्षक लेखक लिखा है। उक्त लेख में वे लिखती हैं

“अधिकांश विद्वानों ने इन्हें मंगोल जाति का वंशज माना है। स्वयं मिजो जाति के लोग भी ऐसी मान्यता रखते आए हैं।..... वर्तमान मिजो भाषा का जन्म 10वीं से 13वीं शताब्दी के बीच बर्मा में इरावती नदी की घाटी के छिनलुड के आवास काल में हुआ। पहले इसे *लुशेई बोली* फिर कई वर्ष बाद ‘लुशेई भाषा’ के नाम से जाना जाता था। कहा जाता है कि बर्मा की घाटियों के आवास काल में ही ‘छिनलुड’ सरदारों के वंशजों में ‘लुशेईअ’ नामक व्यक्ति था। उसका जन्म इसी वंश में हुआ था। ‘लुशेईअ’ का स्थायी अर्थ ‘लम्बे सिरवाला’ है। वह बहुत ही बुद्धिमान और प्रभावशाली था। इसके वंशजों ने ही तिब्बती-बर्मी परिवार के कई उपबोलियों के योग से ‘लुशेई भाषा’ वर्तमान मिजो भाषा को जन्म दिया।”<sup>11</sup>

‘लुशेई’ भाषा के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने विस्तार से परिचय दिया है। किन्तु मिजो का पूर्व रूप लुशेई नहीं बतलाया। ‘लुशेई’ को पर्वत का नाम बतलाया और पर्वत के नाम से ‘भाषा’ का परिचय दिया है। लिखा है

“जिस प्रकार चिन् पर्वत में ‘लै’ पारस्परिक व्यवहार की भाषा है, उसी प्रकार लुशेई पर्वत में ‘लुशेई’ है। यह क्षेत्र अनेक देशान्तर गमन करनेवालों का अड्डा रहा है। यहाँ समय-समय पर बराबर विभिन्न जातियाँ आती रही हैं तथा उन्होंने अपने पूर्व निवासियों को पश्चिम एवं उत्तर की ओर जाने के लिए बाध्य किया है। आजकल इस क्षेत्र में मुख्य रूप से ‘लुशेई’ लोग रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोग उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, दक्षिण-पूर्व से आगे बढ़ने लगे। सन् 1840 तथा 1850 ई. के बीच उन्होंने उत्तरी लुशेई पर्वत से अपने पूर्व निवासी थाड़ो लोगों को कछार की ओर भेजकर उस पर अन्तिम रूप से अपना अधिकार जमा लिया और इस प्रकार ये सर्वप्रथम अंग्रेजों के सम्पर्क में आए। इसके परिणामस्वरूप इनकी उत्तर की ओर प्रगति सदा के लिए रुक

गई। इसके बाद से इनका, अंग्रेजी राज्य से सम्बन्ध इतिहास की वस्तु है। इनके नाम की वर्तनी लुशेई है किन्तु इनकी भाषा ‘लुशेई’ कहलाती है। वे अपने को दुलियेन तथा अपनी भाषा को ‘दलियेन’ लोग कहते हैं। इसकी कई बोलियाँ हैं जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध ‘डेब्ले’ है। इसे दक्षिणी लुशेई पर्वत में देवगिरि के पड़ोस के गाँवों तथा पश्चिमी हनुलांग के गाँवों में गैर-लुशेई जाति के लोग बोलते हैं। परिनिष्ठित लुशेई भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा सुख्यात है। इसके कई व्याकरण लिखे गए हैं जिनमें से आरम्भिक मिशनरियों, लोरेन तथा सैविज द्वारा लिखित व्याकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही इन लोगों से इसका एक पूर्ण कोश भी लिखा है।”<sup>12</sup>

ग्रियर्सन ने अंग्रेजों से सम्पर्क में आने के बाद का इस भाषा का परिचय दिया है और इसका नाम ‘लुशेई’ बतलाया है। किन्तु बाद में यही लुशेई ‘मिजो’ भाषा में परिणत हो गई है। इस भाषा का कोश देवनागरी लिपि में नागालैण्ड भाषा परिषद, कोहिमा ने 1974 ई. में प्रकाशित किया है। इसके ‘प्रकाश्य’ के आरम्भ में प्रो. ब्रज बिहारी कुमार ने लिखा है

“मिजो भाषा, जिसे *लुशेई* भी कहते हैं, केन्द्र शासित प्रदेश मिजोरम की जनभाषा है। इसके बोलनेवाले लगभग तीन लाख हैं। जैसे मणिपुर राज्य के थाडू, पाइते, मार, गाड्ते, वाइते व्हाइफे इत्यादि भाषाओं के बोलने वाले भी इसे अच्छी तरह बोल तथा समझ लेते हैं।

पठन-पाठन के लिए यह भाषा गुवाहाटी विश्वविद्यालय (अब उत्तर-पूर्व पार्वत्य विश्वविद्यालय शिलाड) के स्नातक स्तर तक मान्य है। इस भाषा में सौ के करीब प्रकाशित पुस्तकें हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं।”<sup>13</sup>

2

मिजोरम की भाषा ‘मिजो’ का इतिहास आधुनिक है। पहले इसका नाम *लुशेई* था। इस भाषा में जो पुस्तकें लिखी हुई मिलती हैं, वे रोमन लिपि में हैं। मिजोरम म्यांमार की सीमाओं से घिरा हुआ है और उत्तर-पूर्व के दक्षिणी छोर पर है। ठेठ उत्तर में अरुणाचल प्रदेश है और ठेठ दक्षिण में मिजोरम है। ये सब प्रदेश पहले असम के ही अंग थे। अलग-अलग जिलों के रूप में इनकी पहचान थी। 1947 ई. के बाद इन सब प्रदेशों की ओर भारत ने ध्यान दिया। ईसाई मिशनरियों ने भी यहाँ की भाषाओं पर काम किया और इन प्रदेशों की भाषाओं को रोमन लिपि का आधार दिया। सन् 1947 ई. के बाद 1954 ई. तक भी पूरी तरह से ध्यान दिया जाने लगा। 1954 ई. के बाद में देवनागरी लिपि यहाँ पर पहुँची है। पहले-पहल हिन्दी भाषा का विरोध हुआ। हिन्दी

से पहले बांग्ला पहुँची है। बांग्ला लिपि भी अपनाई गई। नागालैण्ड भाषा परिषद ने इन भाषाओं की पुस्तकों को देवनागरी में प्रकाशित किया है। नागालैण्ड और मिजोरम में ईसाई मिशनरियों का काम अधिक हुआ है। नागालैण्ड में अनेक जनजातियाँ रही हैं, उनमें से किसी एक को सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकृति मिली नहीं। सम्पर्क भाषा के रूप में नगामी भाषा का व्यापक प्रसार हुआ और आज भी वह भाषा वहाँ जनसम्पर्क की भाषा है, किन्तु स्वयं नागा जातियों ने नगामी को अपनी भाषा नहीं माना। इसलिए वहाँ पर अंग्रेजी को राजभाषा घोषित करवा दिया। व्यवहार में नगामीज भाषा (मिश्रित भाषा है) आज भी सम्पर्क भाषा का काम कर रही है। मिजोरम में अंग्रेजी भाषा उस रूप में स्वीकृत नहीं हुई। भाषा का नाम बदला गया। लुशाई को मिजो कहा गया और मिा से मिजेम प्रदेश का नामकरण हो गया। यों इन प्रदेशों में मिजेभाषा और मिजोरम प्रदेश भौगोलिक नाम हो गए। असम की असमी भाषा, मणिपुर की मणिपुरी भाषा और मिजेम की मिजेभाषा भौगोलिक नाम हो गए। भाषाओं का नामकरण भौगोलिक आधार पर होता है और ऐसा केवल तीन प्रदेशों में ही है। अन्य जनजातियों की भाषाओं को भौगोलिक स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है।

24

नागालैण्ड प्रदेश के नामकरण में लैण्ड अंग्रेजी शब्द है। उसे नागभूमि भी नहीं कहा गया। भारत का नामकरण भी अंग्रेजों ने India इण्डिया कर दिया था और आज भी वह नाम चल रहा है। भारतीय भाषाओं की पुस्तकों में इण्डिया नाम नहीं है और न वह पहले भी चलता था। शहरों के नाम बदलने में प्रदेशों की भाषाओं का अंग्रेजीकरण किया गया। सारे देश में अंग्रेजी भाषा को बनाए रखने के प्रयत्न लगातार होते रहे हैं। किन्तु अब तो प्रादेशिक भाषाओं का महत्त्व बढ़ रहा है। अपने-अपने प्रदेशों में वे सम्पर्क भाषाएँ और राजभाषाएँ हो गई हैं।

25

अरुणाचल प्रदेश में कई जनजातियाँ हैं, जिनका विस्तृत परिचय माता प्रसाद ने दिया है। उनमें पदम बोली भी है। उक्त बोली आदि जनजाति की उपबोली है। उसका कोश हिन्दी आदि कोश है। इसका प्रकाशन नागालैण्ड भाषा परिषद, कोहिमा ने किया। इसका प्रकाशन 1976 ई. में पहली बार हुआ है। इसी तरह और कई प्रकाशन हैं। उनमें से कुछ के नाम, जो मेरे पास हैं, उनकी सूची नीचे दे रहा हूँ

1. हिन्दी खेजा अंग्रेजी कोश, कोहिमा, प्रथम संस्करण, फरवरी 1974 ई.
2. लियांग माइहिन्दी-अंग्रेजी कोश, कोहिमा, प्रथम संस्करण, 1971 ई.

3. नागालैण्ड की कुछ प्रमुख जातियों की भाषाओं के व्याकरण तथा कोशों का भी प्रकाशन हुआ है। लोथा का व्याकरण भी इनमें है। इस व्याकरण के निवेदन में लिखा है

“लोथा भाषा नागालैण्ड के मोकोकचुंग जिले के वोखा तहसील के रहने वाले लोथा नागाओं की भाषा है। कहना नहीं होगा कि लोथा नागाओं का नागा कबीलों में प्रमुख स्थान है।

प्रस्तुत पुस्तक परिषद के साहित्य निर्माण योजना के व्याकरण सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। अंगामी भाषा का व्याकरण हम पहले ही प्रकाशित कर चुके हैं। फिलहाल हमारी योजना नागा प्रदेश की सोलह भाषाओं के व्याकरण एवं कोश तैयार कर प्रकाशित करने की योजना है। उनमें अधिकांश की पाण्डुलिपियाँ तो तैयार भी हो चुकी हैं। नागा भाषाओं के बाद हम पूर्वांचल की अन्य भाषाओं का कार्य भी करेंगे। व्याकरण कोश सीरीज के अलावा विभिन्न भाषाओं में लोक साहित्य सीरीज तथा सीरीज के अलावा विभिन्न भाषाओं में लोक साहित्य सीरीज तथा गाँधी सीरीज की पुस्तकों के लेखन तथा प्रकाशन का कार्य भी चालू है।

इस पुस्तक के लेखक श्री राधेश्याम सिंह ‘गौतम’ परिषद के सहायक मंत्री हैं। जिस लगन से वे विभिन्न भाषाओं के व्याकरणों के प्रणयन के कार्य में जुटे हुए हैं, उसे देखते हुए मुझे अपने ऋषियों की याद आए बिना नहीं रह सकती।”<sup>14</sup>

4. हिन्दी चाखेसाड अंग्रेजी कोश (छोत्री बोली) अगस्त 1972 ई.
5. हिन्दी साडतम अंग्रेजी कोश 1973 ई.
6. हिन्दी पोचुरी अंग्रेजी कोश प्रथम संस्करण 1972 ई.

लोथा/चाखेसाड/साडतम/तथा पोचुरीचारों ही भाषाएँ नागालैण्ड की भाषाएँ हैं। कोहिमा की भाषा परिषद ने इनका प्रकाशन किया है। ये सभी पर्वतीय भाषाएँ हैं। इनकी रोमन लिपि में लिखने का प्रयत्न हुआ है। कोशों का निर्माण करते समय दोनों लिपियों का उपयोग किया गया है। नागालैण्ड में अनेक कबीले हैं और प्रत्येक कबीले के अपने-अपने जिले हैं, जहाँ पर ये बस गए हैं। इन विविध भाषाओं में किसी एक भाषा को महत्त्व न मिल पाने के कारण और सब अपनी-अपनी भाषाओं को महत्त्वपूर्ण मानने के कारण अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में प्रचलित करने का प्रयत्न हुआ है। इन भाषाओं की जो कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, वे ईसाई मिशनरियों की हैं। देवनागरी में इनके कोशों का निर्माण भाषा परिषद ने किया है। यों कोहिमा के भाषा परिषद ने देवनागरी लिपि को माध्यम बनाकर पुस्तकों के निर्माण का काम किया, वह प्राथमिक स्तर का होने पर भी श्रमसाध्य रहा है। इनको पूर्ण करने में प्रो. ब्रज बिहारी कुमार और उनके सहयोगियों ने वह सब काम किया है। केवल कोश निर्माण का कार्य

ही नहीं किया अपितु इन कोशों के आरम्भ में भाषागत व्याकरणिक विशेषताओं का विश्लेषण भी किया है। ध्वनि चिह्नों के संकेत देवनागरी में आरम्भ में दिए हैं। पर्वतीय भाषाओं के विकास के स्तर को पहचानने का प्रयत्न भी इन पुस्तकों में है। भौगोलिक परिचय भी है। इनमें से लोथा भाषा का परिचय ऊपर दिया है। शेष तीन भाषाओं का परिचय नीचे दे रहा हूँ।

**चाखेसाड (छोक्री बोली)** कोहिमा जिले की फेक तहसील के पश्चिमी हिस्से में बोली जाती है। यह भाषा अंगामी भाषा से काफी मिलती-जुलती है। अंगामी तथा छोक्री लोग एक-दूसरे की भाषा आसानी से समझ लेते हैं। आज से कुछ साल पहले तक छोक्री लोगों को पूर्वी अंगामी के नाम से जाना जाता था। आज ये लोग अपने को 'चाखेसाड' नाम से पुकारा जाना अच्छा समझते हैं। वस्तुतः नागाओं का चाखेसाड कबीला छोक्री/खेजा एवं पोचुरी नागाओं के मिलने से बना है, जो अभी तक फेक तहसील में निवास करते हैं तथा इन्हीं नामों की अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग करते हैं। चाखेसाड एक नया शब्द है, जो छोक्री के (जिसे अंगामी Chakri छोक्री भी कहते हैं) चा (या छा Cha) खेजा (Kheza) के खे (Khe) तथा सांगताम (Sangtam, पोचुरी लोग, इस नाम से भी जाने जाते हैं) के सांग (Sang) शब्दों के मिलने से बना है। अंगामी भाषा की जिन दो बोलियों तंगिमा एवं चक्रिया दोनों का उल्लेख ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वेक्षण में किया है, उसमें चक्रिया ही वर्तमान छोक्री भाषा है।<sup>15</sup>

चाखेसाड के व्याकरण की रूपरेखा की तरह प्रो. ब्रजबिहारी कुमार ने साडतम तथा पोचुरी व्याकरणों की रूपरेखाएँ लिखी हैं। उन्हीं के आधार पर इन भाषाओं का परिचय लिख रहा हूँ

**साडतम भाषा** साडतम नागालैण्ड के तुएनसांग जिले के साडतम नागाओं की भाषा है। इस भाषा के बोलनेवालों की संख्या लगभग तीस हजार है। साडतम नागा लोडखिम एवं किफिरे इन दो क्षेत्रों में बँटे हुए हैं, जिनके बीच का क्षेत्र सेमा एवं यिमचुड्रे नागाओं का है। कोहिमा जिले के चाखेसांग कबीले के पोचुरी नागाओं का एक अन्य नाम साडतम भी था, किन्तु आज उस उपकबीले के लोग अपने को पोचुरी कहा जाना अधिक पसन्द करते हैं। उनकी भाषा साडतम भाषा से अलग है और हमने उसके कोश एवं व्याकरण तैयार करके प्रकाशित किए हैं।

साडतम भाषा की कुछ विशेषताएँ

1. साडतम भाषा एक सुरप्रधान भाषा है। स्वरों के आरोह-अवरोह से इस भाषा में एक ही शब्द के कई अर्थ हो जाते हैं।
2. समस्त एकाक्षर परिवार की भाषाओं में विशेषण एवं जातिवाचक संज्ञाओं से बनी भाववाचक संज्ञाओं का अभाव रहा है। ऐसा इस भाषा में भी रहा है, किन्तु अब अन्य भाषाओं के प्रभाव से इस भाषा में भी भाववाचक संज्ञाओं का

निर्माण होने लगा है। ऐसे समय, ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि नवनिर्मित शब्द में निकटतम अर्थ लाया जा सके।

3. नागा भाषाओं में पहले व्याकरणिक पदों का अभाव था। आज अधिकांश भाषाओं में इन पदों का विकास हो चुका है। यह कथन साडतम भाषा के साथ भी लागू है।
4. अपने परिवार की अन्य भाषाओं की तरह साडतम भाषा में भी कुछ शब्द हैं जिनका सम्बन्धवाची सर्वनामों के साथ योग होने पर उनके प्रथम शब्दांशों का लोप हो जाता है। ऐसे शब्दों के साथ प्रायः कुछ अर्थहीन उपसर्ग या सम्बन्धवाची सर्वनाम ही जुटे रहते हैं। 'माता', 'पिता' आदि सम्बन्ध का बोध कराने वाले शब्दों, शरीर के अंगों एवं पशुओं के नामों को सूचित करने वाले शब्दों के साथ यह बात विशेष रूप से लागू होती है।  
Atpa आत्पा = माँ, Itpa इत्पा = मेरी माँ,  
Niitpa नत्पा = तुम्हारी माँ  
Apiatpa अपि आत्पा = उसकी माँ
5. कर्मवाच्य, भाववाचक एवं परोक्ष कथन का प्रचलन इस भाषा में नहीं रहा है।
6. तोड़ना, काटना, धोना इत्यादि क्रियाओं के लिए इस भाषा में एकाधिक शब्दों का प्रचलन है।
7. उपसर्गों, प्रत्ययों एवं मध्य सर्गों का प्रयोग इस भाषा में बहुतायत से होता है।<sup>16</sup> व्याकरण की यह सामान्य रूपरेखा है। चौदह पृष्ठों में मात्र रूपरेखा ही लिखी जा सकती है।

**3. पोचुरी भाषा** इस भाषा के व्याकरण की रूपरेखा में पोचुरी भाषा का सामान्य परिचय है। लिखा है

“पोचुरी नागाओं का क्षेत्र नागालैण्ड के कोहिमा जिले के फेक तहसील के पूर्वी हिस्से में अवस्थित है। इनकी भाषा का नाम भी 'पोचुरी' ही रखा है। पोचुरी नागाओं की जनसंख्या लगभग तीन हजार है। पोचुरी (Pochuri) शब्द केपो (Kiipo), कंचु (Kiichu) एवं खुरी (Khuri) शब्दों के अन्तिम शब्दांशों को मिलाकर बना है। कपो, कंचु एवं खुरी इस कबीले के तीन उपकबीलों के नाम हैं।

नागालैण्ड के फेक तहसील के नागाओं का नाम चाखेसांग है। यह शब्द चाक्र (छोक्री), खेजा एवं सांगतम नागाओं के नामों के प्रथम शब्दांशों के मिलने से बना है। इन सांगतम नागाओं का ही अन्य नाम पोचुरी है। वैसे तुएनसांग जिले के लोडखिम क्षेत्र के नागाओं को भी सांगतम नाम से जाना जाता है।

कुछ पुराने लेखकों ने इनका 'नग्न रेडमा' (Naked Rengmas) के नाम से उल्लेख किया है। इनके विषय में प्रकाशित साहित्य बहुत कम है।<sup>17</sup>

नागालैण्ड भाषा परिषद के प्रकाशन और भी हैं। मैं वाराणसी से विश्वविद्यालय प्रकाशन से उपलब्ध पुस्तकें ले आया था। उन्हीं के आधार पर लिखा है। नागालैण्ड और उसके निकट प्रदेशों में व्याप्त नागा भाषाओं का काम और भी है। इतना कार्य होने पर भी किसी *नागा भाषा* को सम्पर्क भाषा के रूप में विकसित नहीं किया जा सका। और नागालैण्ड की राजभाषा अंग्रेजी हो गई। यहाँ तक कि देवनागरी रूप को अपनाने के लिए रोमन लिपि के माध्यम से काम हुआ। इसी तरह जिन कोश ग्रन्थों का काम हुआ, उनका माध्यम अंग्रेजी है। सीधे देवनागरी लिपि (हिन्दी में) में काम हुआ ही नहीं है। आज भी भारत के विश्वविद्यालयों में एम. ए. *संस्कृत* की पढ़ाई का माध्यम अंग्रेजी है भारतीय भाषाएँ नहीं हैं। जैसे प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से संस्कृत पढ़ाने की व्यवस्था एक समान नहीं है। जब हमारी भाषाएँ ही हम अपनी-अपनी भाषाओं के माध्यम से पढ़ नहीं सकते तो अन्य भाषाओं का क्या कहना? भारतीय भाषाओं को जोड़नेवाली शृंखला भी अंग्रेजी भाषा है। इस भाषा से मुक्ति पाने के प्रयत्न जारी हैं।

## ४

**कुड़ुख भाषा** त्रिपुरा प्रदेश उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में पश्चिमी छोर पर है। पड़ोस में बंगलादेश है। पूर्व में मिजोरम है। कुड़ुख भाषा का प्रचलन बिहार एवं मध्य प्रदेश की तरह, त्रिपुरा एवं असम में भी है। वस्तुतः यह मध्य भारत के वन-प्रदेशों की भाषा है। इसके भौगोलिक विस्तार के सम्बन्ध में प्रो. ब्रजबिहारी कुमार ने लिखा है

“कुड़ुख भाषियों की संख्या 1,141, 804 (1971 ई. की जनगणना के अनुसार) है, जिसमें से अधिकांश बिहार, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल एवं उड़ीसा के निवासी हैं। असम में इनकी संख्या 32, 725 तथा त्रिपुरा में 1,811 थी। कुड़ुख भाषा के अन्य नाम *यांगड़ी, किसानी, किसान कुड़ुख*, आदि भाषा कुड़ुख तथा *उराँव* हैं।”<sup>18</sup>

इस भाषा का अध्ययन उन्नीसवीं शती में ईसाई मिशनरियों ने किया है। 1866 ई. से 1924 ई. तक जो काम हुआ उसका विवरण प्रो. ब्रजबिहारी कुमार ने लिखा है। 1924 ई. के बाद में 1952 ई. तक का विवरण बाद में अलग से लिखा है। *भाषा परिवार* की दृष्टि से इस भाषा पर विचार करते हुए लिखा

“भाषा शास्त्रियों ने इसे द्रविड़ भाषा परिवार के मध्यवर्ती समुदाय के अन्तर्गत गोंडी, मलतो, कोलामी एवं कूर्ई (कंधी) भाषाओं के साथ रखा है। डॉ. बी. एस.

गुहा के अनुसार उराँव लोगों ने अपने दक्षिण प्रवास के समय मुंडावर्ग की अपनी मातृभाषा को भुलाकर द्रविड़ वर्ग की भाषा को अपना लिया था। इस प्रकार डॉ. गुहा के अनुसार उराँव प्रजातीय रूप से आग्नेय या निषाद परिवार के हैं, यद्यपि उनकी भाषा अलग परिवार की है।”<sup>19</sup>

और आगे उराँव के सम्बन्ध में प्रो. ब्रजबिहारी कुमार लिखते हैं

“उराँवों की मान्यता है कि वे कर्नाटक से नर्मदा तट पर होते हुए सोन की घाटी में आए, जहाँ उन्होंने रोहतासगढ़ में अपना राज्य स्थापित किया। बाद में वे वहाँ से मुसलमानों द्वारा भगा दिए गए। रोहतासगढ़ से अलग होते समय वे छोटा नागपुर की तरफ चले गए तथा उनकी एक शाखा राजमहल की पहाड़ियों में जाकर बस गई। राजमहल पहाड़ियों के मलेर (माल पहाड़िया) तथा सौरिया पहाड़िया भाषायी तथा प्रजातीय दृष्टि से उराँव लोगों के सगे हैं, यद्यपि वे सभी दृष्टियों से पीछे हैं।”<sup>20</sup>

## ७

कोहिमा से ही प्रकाशित इस कोश में अंग्रेजी को माध्यम नहीं बनाया गया है। कुड़ुख भाषा को देवनागरी में लिखा गया है। यों इस भाषा का परिचय देनेवाली पुस्तकें अंग्रेजी में पहले लिखी गई हैं। ईसाई मिशनरियों ने उन्नीसवीं शती में इस भाषा में कार्य किया है। उत्तर-पूर्व की भाषाओं से त्रिपुरा की कुड़ुख भाषा एकदम अलग है। असम की भाषा असमी की तरह यह भाषा मध्य देश से जुड़ी है और इस पर आर्य परिवार तथा द्रविड़ परिवार दोनों के संस्कार हैं। दक्षिण तथा उत्तर-पूर्व की यात्राओं के कारण समय-समय पर इस भाषा को दोनों परिवारों के संस्कार प्राप्त हुए हैं। अब इसे मात्र द्रविड़-परिवार की भाषा कहना ठीक नहीं लगता। कुड़ुख भाषा में तो द्रविड़ परिवार के संस्कार क्षीण हो गए हैं। इस भाषा पर मुण्डा का प्रभाव भी है। यह भाषा निरन्तर रूपों को बदलने की प्रक्रिया से गुजरती रही है।

## ८

असमी भाषा तो बांग्ला, उड़िया आदि भाषाओं की तरह आर्य परिवार से जुड़ी हुई है। उसे छोड़कर अन्य सभी भाषाएँ आर्य परिवार की नहीं हैं। मणिपुरी को चाहो तो कह सकते हैं कि उस पर आर्य परिवार के संस्कार अधिक हैं। शेष भाषाओं में कुड़ुख को छोड़कर शेष सभी नाग परिवार की हैं। उन सबको नाग भाषाएँ कह सकते हैं जो भाषाएँ सीधे हिमालय के मार्ग से अवतरित हुई हैं और मिजोरम तक पहुँची हैं, वे प्रायः नाग भाषाएँ हैं। इन नाग भाषाओं को प्राचीन काल में किरात कहा गया है।

हिमालय की भाषाओं को गंधर्व, यक्ष, किन्नर, किरात आदि की भाषाएँ समझा जा सकता है। नाग भाषाएँ नाम भी प्रचलित रहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इन्हें नाग भाषाएँ कहना ठीक माना। इन्हीं को तिब्बत-चीनी तथा तिब्बत-बर्मी भाषाएँ कहा गया है। नाग भाषाओं को छोड़ दें तो चौथा परिवार *कोल परिवार* है। कोल परिवार को विद्वानों ने आस्ट्रिक परिवार कहा है। नाग भाषाओं के सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है

“चीनी-तिब्बती नाम का कोई निश्चित भाषा परिवार है। यह बात वैसे ही विवादास्पद है जैसे आस्ट्रो एशियाटिक परिवार की बात। किसी एक आदि भाषा से विशाल चीनी-तिब्बती समुदाय की भाषाओं की उत्पत्ति बतलाना दुष्कर है। तिब्बत और बर्मा की भाषाओं को उक्त समुदाय की शाखा के अन्तर्गत रखा गया है। भारत के पूर्वी अंचल में तथा हिमालय की उपत्यकाओं में तिब्बत-बर्मी शाखा से सम्बद्ध अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इन्हें यहाँ नाग भाषाएँ कहा गया है।”<sup>21</sup>

इसी तरह कोल भाषाओं के सम्बन्ध में लिखा

“भारत का एक प्राचीन भाषा परिवार *कोल* है। बहुत से लोग इसे मुण्डा कहते हैं। डॉ. चाटुर्ज्या ने बांग्ला भाषा के उद्भव और विकास ग्रन्थ में लिखा है कि मुण्डा शब्द की अपेक्षा कोल शब्द का व्यवहार अधिक समीचीन है। कोल परिवार में मुण्डा एक विशेष समुदाय है, कोल शब्द इस परिवार के सभी समुदायों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। इस परिवार की भाषाएँ मध्य भारत, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा के पहाड़ी क्षेत्रों में बोली जाती हैं। *मुंडारी*, *संथाली*, *कूर्क*, *हो*, *सवर* या *सोर* भाषाओं के बोलने वालों की संख्या लाख दो लाख, कहीं पाँच लाख से ऊपर है, शेष भाषाओं के बोलनेवाले लाख से भी कम हैं और कुछ के बोलने वाले हजार से भी कम हैं। पड़ोसी आर्य भाषाएँ बोलनेवाले समाजों के, सामन्तों, साहूकारों, पूँजीपतियों ने अनेक कोल भाषाएँ बोलनेवाले गण-समाजों का शोषण किया है। मुगल काल में और अंग्रेजी राज में कोल जातियों का शोषण ही नहीं, सामूहिक संहार भी हुआ है।”<sup>22</sup>

कुड़ुख भाषा को विद्वानों ने द्रविड़ परिवार के अन्तर्गत रखा है। उसे कोल परिवार के अन्तर्गत रखना अधिक उचित होगा। यह ठीक है कि पर्वतीय और वन प्रदेश की भाषा होने के कारण कुड़ुख भाषियों ने लम्बी-लम्बी यात्राएँ की हैं और जहाँ-जहाँ बस गए वहाँ के संस्कार इन्हें प्राप्त हुए हैं, तथापि मध्य देश के संस्कार इन्हें अधिक मिले हैं और द्रविड़ की तरह आर्य परिवार के संस्कार भी इन्हें मिले हैं। इन सब संस्कारों को प्राप्त करते हुए यह भाषा त्रिपुरा और असम तक पहुँच गई है।

2

उत्तर पूर्व की भाषाओं में असमी, मणिपुरी तथा कुड़ुख भाषाएँ शेष भारतीय भाषाओं से सीधा सम्पर्क होने के कारण अधिक जुड़ी हुई हैं। अन्य पर तिब्बत तथा बर्मा की भाषाओं का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। इन भाषाओं में अधिकांश बोलियाँ ही हैं। इन बोलियों में अब कुछ भाषाओं में परिणत हो रही हैं। भारत स्वतन्त्र होने के बाद इन बोलियों का तेजी से विकास हुआ है और इस विकास के कारण इनमें प्रगति हो रही है। भाषा का विकास आत्म-सम्मान को बढ़ानेवाला होता है।

## सन्दर्भ

1. क्षेत्रफल की संख्याएँ, माताप्रसाद की पुस्तक ‘मनोरम भूमि’ अरुणाचल प्रदेश से ली गई है, पृ. 29, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-6, द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, 1995 ई.।
2. भारत के भाषा-परिवार और हिन्दी-भाग 3, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली-2, प्रथम संस्करण, 1981 ई., पृ. 37 और 38।
3. *बौद्ध खामती और उनकी रामायण*, डॉ. विजयराघव रेड्डी, चिन्तन-सृजन वर्ष 2, अंक 2 आस्था भारती, दिल्ली-96, (अक्तूबर-दिसम्बर 2004), पृ. 78-79।
4. *भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में बोड़ो समूह की भाषाओं का साहित्य*, डॉ. विजयराघव रेड्डी, भाषा, नवम्बर-दिसम्बर 2004, वर्ष 44, अंक 2, पृ. 48 और 49।
5. वही पृ. 49।
6. *भारत का भाषा सर्वेक्षण*, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, अनुवादक : डॉ. उदयनारायण तिवारी, प्रकाशन शाखा सूचना विभाग, लखनऊ (उ. प्र.), द्वितीय संस्करण, पृ. 142।
7. *नागालैण्ड की भाषाएँ और साहित्य*, डॉ. जगमल सिंह, भाषा, वर्ष 44, अंक 2, नवम्बर-दिसम्बर 2004 ई., केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली-66।
8. *कुकी लोक कथाएँ*, नागालैण्ड भाषा परिषद कोहिमा द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, फरवरी 1978 ई., आरम्भ का ‘प्रकाश्य’ पृष्ठ, मंत्री ब्रजबिहारी कुमार द्वारा लिखित।
9. *हिन्दी खासी कोश*, प्रो. ब्रजबिहारी कुमार, नागालैण्ड भाषा परिषद, कोहिमा, प्रथम संस्करण, 1974 ई., आरम्भ के ‘प्रकाश्य’ शीर्षक से।
10. *भाषा*, नवम्बर-दिसम्बर 2004 (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली-66), वर्ष 44, अंक 2, पृ. 174-175।
11. भाषा, नवम्बर-दिसम्बर 2004 (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली-66), वर्ष 44, अंक 2, पृ. 105 और 109।
12. भारत का भाषा-सर्वेक्षण, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, अनु : डॉ. उदयनारायण तिवारी, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, पृ. 148-149।
13. हिन्दी-मिजो कोश, सं. प्रो. ब्रजबिहारी कुमार, नागालैण्ड भाषा परिषद, कोहिमा, प्रथम संस्करण, मार्च 1974 ई. में ‘प्रकाश्य’ शीर्षक से।

14. लोथा व्याकरणनागालैण्ड भाषा परिषद, कोहिमा, निवेदन से।
15. हिन्दी चाखे साड अंग्रेजी कोश के आरम्भ में प्रो. ब्रजविहारी कुमार ने चाखेसाड व्याकरण की रूपरेखा (छोत्री बोली)लिखी है। पृ. एक से।
16. हिन्दी साडलम अंग्रेजी कोश, प्रो. ब्रजविहारी कुमार, प्रथम संस्करण, 1973 ई., पृ. एक और दो।
17. हिन्दी पोचुरी अंग्रेजी कोश, प्रो. ब्रजविहारी कुमार, श्री थिमासे पोचुरी, प्रथम संस्करण, 1972 ई., पृ. एक।
18. हिन्दी कुडुख तथा कुडुख हिन्दी कोश, प्रो. ब्रजविहारी कुमार, नागालैण्ड भाषा परिषद् कोहिमा, प्रथम संस्करण, मार्च 1981 ई., 'प्रकाश्य' शीर्षक से। पृ. 'क'।
19. वही, पृ. 'ख'।
20. वही, पृ. 'ख'।
21. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (भाग-3), डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981 ई.। पृ. 16।
22. वही, पृ. 86।

## नाग ध्वनितन्त्र

### डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह\*

चीनी-तिब्बती परिवार की सभी भाषाओं में अर्थभेदक स्वरतान का व्यवहार होता है। यह अलग बात है कि इन स्वरतानों की संख्या किसी में कम और किसी में ज्यादा है। चीनी की बोलियों में भी यह विभिन्नता देखी जा सकती है। मन्दारिन में इनकी संख्या पाँच है, फुकिनी में आठ है और कैटिनी में नौ है। मानक चीनी भाषा में चार तानें उपलब्ध हैं—समोतान, उच्च निम्न (सम) तान, आरोही तान और अवरोही तान। ऐसा नाग भाषाओं में भी है। इन भाषाओं के ध्वनितन्त्र की मुख्य विशेषता अर्थभेदक स्वरतानों का व्यवहार है, यद्यपि भारत की सभी नाग भाषाएँ स्वरतानों का व्यवहार एक जैसा नहीं करती हैं। गारों में स्वरतान का कोई महत्त्व नहीं है। यह बलाघात को भी नकारती है। ये दोनों ध्वनि-गुण तान भाषाओं के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। स्वरों की लघुता-गुरुता इन भाषाओं के लिए ज्यादा महत्त्व नहीं रखती है, पर गारों में यह ध्वनि-गुण अर्थ-भेदक है। ऐसा आर्य प्रभाव के कारण है।

यिमचुंगर भाषा में भी सुरों की उतनी प्रधानता नहीं है, जैसी अंगामी भाषा में है। रेंगमा, पोचुरी, फोम, कोन्यक, तांगखुल, चांग, सांगतम, तरावँ आदि सभी नाग भाषाएँ सुरप्रधान हैं। सुरों के आरोह-अवरोह से इन भाषाओं में एक ही शब्द के कई अर्थ हो जाते हैं। खेद है कि अभी तक सुरों को लिपिबद्ध करने का कोई प्रावधान इन भाषाओं के मामले में नहीं हुआ है। ऐसे में इन भाषाओं के कोशकारों एवं सीखनेवालों को अर्थ एवं उच्चारण की एक अराजक स्थिति से गुजरना होता है। उदाहरण के लिए तरावँ भाषा के 'दयड्' शब्द को लिया जा सकता है। 'दयड्' के कई अर्थ हैं—1. सिर हिलाकर स्वीकृति देना, 2. पूरा करना, 3. यकीन करना, 4. पीछा करना या खदेड़ना, 5. चयन करना, 6. स्वीकार करना, 7. बस (पूरा हुआ के अर्थ में)। जैसे चीनी लिपि में स्वरतानों की अभिव्यक्ति के लिए कोई विशेषक चिह्न नहीं है, वैसे नाग भाषाओं में भी क्योंकि चीनी भाषा-भाषी तथा नाग भाषा-भाषी प्रत्येक अक्षर के साथ अपेक्षित सही तान का प्रयोग कर लेते हैं।

वैदिक संस्कृत स्वरतानों का व्यवहार करती थी जैसा कि सभी संहिताओं, कुछ

\* हिन्दी विभागाध्यक्ष, जैन कालेज, सासाराम।

ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की पाण्डुलिपियाँ स्वराघात चिह्नित मिलती हैं। जैसे वैदिक संस्कृत में उदात्त, स्वरित एवं अनुदात्त ये तीन सुर थे, वैसे ग्रीक में भी तीन सुर ऐक्यूट, ग्रेव तथा सरकम्फलेक्स थे। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पंजाबी सीमित रूप में स्वरतानों का व्यवहार करती है। यह सम्भव है कि इण्डोयूरोपियन परिवार की लिथुआनियन आदि भाषाओं में जो स्वरतान की प्रवृत्ति है, उसका सम्बन्ध नाग भाषाओं की स्वरतान-पद्धति से रहा हो। लिथुआनियन लिथुआनिया प्रदेश की भाषा है। बाल्टिक सागर के तट पर बोली जानेवाली भाषाओं में से यह भाषा मूल भारोपीय भाषा से अपेक्षाकृत निकटतम होने के कारण काफी महत्त्वपूर्ण है।

चीनी परिवार की भाषाओं में अनुनासिक ध्वनियों की बहुलता है। ऐसा नाग परिवार की भाषाओं में भी है। यह बात जू और डू ध्वनियों को ध्यान में रखकर कही गई है। नाग भाषाओं में जू और डू का अर्थ-विच्छेदक व्यवहार होता है। इनका यहाँ आदिस्थानीय प्रयोग भी होता है। बोडो, गारो जैसी कुछ नाग भाषाएँ इसके अपवाद भी हैं। इनमें डू शब्दों के आरम्भ में नहीं आता है परन्तु मध्य और अन्त में इसे अपनाने में ये परहेज नहीं करती हैं।

डात्चोएक तरह की मछली (लोथा), डुकेलोगअसामी (रिंगमा), डछिछेरूठना (सांगतम), डेतिपसूचना (चांग), डभी (पोचुरी), डतेइ काहाइभक्ति (तांगखुल), ड्याइरोशनदान (फोन), डडेहठी (कोन्यक), डतोरसीद (यिमचुंगर) आदि को मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है। मोंपा भाषा में डू का अर्थ-विच्छेदक प्रयोग देखा जा सकता है जैसे डन्जादू, ड-डूगीत, डम्आकाश। इसी भाषा में जू का आदिस्थानीय प्रयोग भी धड़ल्ले से होता है, जैसे : जिरिसंध्या, जिड्साल, जु म् बुईमानदार, जोकूतडूदिमाग। ऐसे बहुत सारे उदाहरण भोटी भाषा में भी मिलेंगे यथा जिडजे (करुणा), जुडजुड (थोड़ा), जे (तकिया), जिडपो (तत्त्व), जुरपो (जल्दी), जोगठा (जंजाल) आदि।

मुण्डा परिवार की भाषाओं में भी डू और जू का स्ववर्गीय वर्णों के साथ संयुक्त रूप में आने के अलावा स्वतन्त्र रूप में भी इनका प्रयोग होता है। संथाली भाषा में डू और जू का स्वतन्त्र प्रयोग देखा जा सकता है बाडनहीं, जाडहडी, जूपीना, बिजसाँप। संथाली में जू का आदिस्थानीय प्रयोग जितना जबरदस्त ढंग से होता है उसे देखकर नाग परिवार की भाषाएँ याद आने लगती हैं। संथाली के मौलिक शब्दों में इसे देखा जाना चाहिए जैसे जुतअँधेरा, जिन्दारात, जुरगिरना, जिरभागना। परन्तु डू का आदिस्थानीय प्रयोग मुण्डा परिवार की भाषाओं में नाग परिवार की भाषाओं की अपेक्षा नहीं के बराबर होता है। संथाली का जू (पीना) चुरू भाषा में डू (पीना) हो जाता है। इस प्रकार के बहुत बिरल उदाहरण मुण्डा परिवार की भाषाओं में मिलते हैं। यदि हम यह भी कहें कि इन अनुनासिक ध्वनियों का मुण्डा भाषाओं में स्वच्छन्द संचरण होता है जिसका एक उदाहरण डू (पीना) है तो अतिशयोक्ति नहीं

होगी। संथाली जू (पीना), मुंडारी नू (पीना) और चुरू डू (पीना) ठीक वैसे ही है जैसे हिन्दी माप और नाप। ऐसा संथाली जुतुम (नाम) और मुंडारी नुतुम (नाम) में भी देखा जा सकता है।

संस्कृत व्याकरण में तथा अफ्रीकी भाषाओं में भी 'डू' ध्वनि शब्द के प्रारम्भ में पाई जाती है। संस्कृत में इसका आदिस्थानीय प्रयोग सीमित है जैसेडीपू, डीषू, डीनू आदि स्त्रीलिंग प्रत्ययों में जबकि अफ्रीकी भाषा में यह व्यापक है : डॉ (स्त्री), डे (तोड़ना)। संस्कृत में डू सामान्यतया तथा शब्दों के मध्य में कवर्ग से पहले पाया जाता है या शब्दों के अन्त में हलन्त के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। हिन्दी में डू का व्यवहार सिर्फ संस्कृत शब्दों की तत्समता प्रदर्शित करने का जरिया मात्र रह गया है वरना इसको शब्दों के मध्य में अनुस्वार के द्वारा ही सूचित करते हैं। द्रविड़ भाषाओं में यह नासिक्य ध्वनि आदिस्थान में प्रयुक्त नहीं होती है हालाँकि तमिलनाडु के रामनाथपुरम् जिले में डू से आरम्भ होनेवाले कुछ शब्द बोले जाते हैं जिसकी चर्चा षण्मुगम् पिल्लड ने इंडियन लिग्विस्टिक्स के अपने लेख 'ए तमिल डायलेक्ट इन सीलोन' में किया है। नासिक्य जू के आदिस्थानीय प्रयोग के मामले में द्रविड़ भाषाएँ उतनी दृढ़ता नहीं रखती हैं जितनी की डू के मामले में। इन भाषाओं में जू का कहीं-कहीं आदिस्थानीय प्रयोग होता है। कन्नड़ में 'जः' का अर्थ संगीत, बैल, टेढ़ी चाल आदि होता है। तमिल और मलयालम भाषा में भी यह ध्वनि शब्दों के आरम्भ में पाई जाती है जैसेजानू (मैं) जण्डु (केंकड़ा), जमलि (मोर), जन्चिच्लू (हल)।

संस्कृत में यह नासिक्य ध्वनि साधारणतया शब्दों के मध्य में सुनाई पड़ती है हालाँकि पाणिनि ने अनेक प्रत्ययों के अन्त में जू ध्वनि लगाई है जैसे अजू, ठजू, खजू आदि। हिन्दी में जू के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग अधिक प्रचलित है जबकि इण्डोयूरोपियन परिवार की फ्रेंच और इटालियन भाषाओं में यह ध्वनि पाई जाती है। फ्रेंच आञे ( Agneau) तथा इटालियन ओजि (Ogni) को नमूने के तौर पर लिया जा सकता है जिसका अर्थ क्रमशः भेड़ का बच्चा तथा सब होता है। भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं में सिन्धी एक ऐसी भाषा है जिसमें डू, जू का व्यवहार अधिक होता है। हिन्दी में डू तथा जू का उच्चारण अलग से नहीं होता है जबकि सिन्धी में इनका उच्चारण किया जाता है जैसे मडी (सगाई हुई), मज (वधूपक्ष)। निष्कर्ष यह कि नासिक्य ध्वनि जू डू का आदिस्थानीय प्रयोग एवं इनकी अर्थ-विच्छेदक भूमिका के मामले में भारत की अन्य भाषा परिवारों से नाग परिवार की भाषाएँ काफी आगे हैं। संस्कृत और भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं में समवर्गीय ध्वनि के रूप में इनका सीमित प्रयोग होता है। ये दोनों नासिक्य व्यंजन घोष ध्वनियाँ हैं। अतः ये कोमल ध्वनि माने जाते हैं। तान भाषाओं के लिए ये ध्वनियाँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं। कारण कि सुर केवल घोष ध्वनियों की चीज है।

अब यदि भारत के भाषायी मानचित्र पर ध्यान केन्द्रित करें तो स्पष्ट होगा कि



इन दोनों नासिक्य ध्वनियों का स्वतन्त्र, अर्थविच्छेदक एवं आदिस्थानीय प्रयोग नाग परिवार की भाषाओं में प्रमुखता से होता है। एक अल्पप्राण-सघोष-कण्ठ्य-नासिक्य है, दूसरा अल्पप्राण-सघोष-तालव्य-नासिक्य है। मुण्डा परिवार की भाषाओं का स्थान इस दृष्टि से दूसरा है। भारत के अन्य दो भाषा-परिवार इस दृष्टिकोण से इनके बाद आते हैं। ऐसे में यह प्रबल धारणा बनती है कि भारत के अन्य भाषा परिवारों में इनका प्रसार नाग प्रभाव के कारण हुआ है।

मूर्द्धन्य नासिक्य का अर्थ-विच्छेदक या आदिस्थानीय प्रयोग नाग परिवार की भाषाएँ बिलकुल नहीं करती हैं। 'ण्' नाग परिवार की भाषाओं की ध्वनि नहीं है। यदि किसी शब्द में यह ध्वनि मिलती है तो यह तय है कि वह शब्द नाग भाषा परिवार के लिए बाह्य घुसपैठिया है जैसे मणिपुरी का षण (गो), षणलाव (बैल)। संस्कृत में 'ण्' से आरम्भ होनेवाला कोई शब्द नहीं है। ऐसा मुण्डा परिवार की भाषाओं में भी है। कन्नड़ में 'ण' से आरम्भ होनेवाले सीमित शब्द हैं जैसे ण (पाँच की संख्या), णत्तडगड्डेण (संगीत में एक प्रकार का ताल)। तमिल में यह ध्वनि अर्थ-विच्छेदक भी है जैसे अँण् (विचार) और अँन् (बोलना)। मलयालम भाषा में ण् का प्रचलन बहुत है। प्राकृत में 'ण' से आरम्भ होनेवाले सैकड़ों शब्द हैं। इस मामले में प्राकृत भाषाएँ आर्य परिवार की अपेक्षा द्रविड़कुल की भाषाओं के ज्यादा करीब हैं।

भारत के भाषा परिवारों में से द्रविड़कुल की भाषाएँ मूर्द्धन्य ध्वनियों का सर्वाधिक प्रयोग करती हैं। आर्य परिवार की संस्कृत भाषा इन ध्वनियों का उतने बड़े पैमाने पर व्यवहार नहीं करती हैं जितने बड़े पैमाने पर प्राकृत भाषाएँ करती हैं। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में ब्रज से लेकर बंगाल तक ट्, ट्, इ का खूब व्यवहार होता है जबकि 'ण्' को लेकर पश्चिम की भाषाएँ मराठी, सिन्धी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, बाँगरू पूरबी क्षेत्र से काफी आगे हैं। ये ध्वनियाँ मुण्डा भाषाओं में भी प्रचलित हैं तथापि माना यह जाता है कि ये इस परिवार की मूल ध्वनियाँ नहीं हैं। कारण कि बाहरी प्रभावों से अन्य की अपेक्षा कम प्रभावित इस परिवार की एक भाषा सवर में ये ध्वनियाँ अनुपलब्ध जान पड़ती हैं। नाग परिवार की प्रायः भाषाएँ इन मूर्द्धन्य ध्वनियों का प्रयोग नहीं करती हैं जो करती हैं उनका मूर्द्धन्यत्व विवाद में है। बोडो का ट्-इ वत्स्य हैं।

मूर्द्धन्य नासिक्य 'ण्' के व्यवहार क्षेत्र में मूर्द्धन्य पार्श्विक 'ळ' का भी प्रयोग होता है। मराठी, गुजराती, राजस्थानी और बाँगरू में यह ध्वनि अनिवार्य रूप से उपस्थित है। द्रविड़ भाषाओं में इसका प्रचलन व्यापक है। तमिल और मलयालम में मूर्द्धन्य संघर्षी 'ळ' भी है। द्रविड़कुल से सटे आर्यभाषी इलाकों में मूर्द्धन्य पार्श्विक 'ळ' का प्रचलन है। इसीलिए मराठी के अलावा मूर्द्धन्य पार्श्विक 'ळ' उड़िया की भी विशेष ध्वनि है। यह ध्वनि हिन्दी में नहीं है। यूरोप की भाषाओं में अंग्रेजी और फ्रेंच इनका इस्तेमाल नहीं करती हैं तथापि नार्वे और स्वीडेन की भाषाओं में इनका विशेष

सन्दर्भों में प्रचलन है। माना यह भी जाता है कि वैदिक संस्कृत में यह ध्वनि थी। भारत की मुण्डा तथा नाग परिवार की भाषाओं में इसका अभाव है। नाग भाषाएँ मूर्द्धन्य ष् को भी बहुधा क् या ख् के रूप में ग्रहण करती हैं। मुण्डा परिवार की भाषाओं में भी यह ध्वनि अनुपलब्ध जान पड़ती है। संस्कृत में इसका प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है। संस्कृत की तुलना में द्रविड़ भाषाओं में इसका व्यवहार सीमित है। 'ऋ' स्वर मूर्द्धन्य है। द्रविड़, मुण्डा और नाग भाषा परिवारों में से कोई भी इसका व्यवहार नहीं करता है। निष्कर्ष यह कि नाग परिवार की भाषाओं में मूर्द्धन्य ध्वनियों का अभाव है और यदि इन मूर्द्धन्य ध्वनियों का आधार हमें स्वीकार हो तो नाग भाषाएँ मुण्डा परिवार की भाषाओं के ज्यादा करीब हैं।

जैसे यह माना जाता है कि आर्य भाषाओं में मूर्द्धन्य ध्वनियाँ द्रविड़कुल की भाषाओं के प्रभावस्वरूप आई हैं वैसे यह भी स्वीकारा जाता है कि तेलुगू, कन्नड़ तथा मलयालम की महाप्राण ध्वनियाँ आर्य भाषाओं के प्रभावस्वरूप आई हैं। कारण कि तमिल में महाप्राण व्यंजनों का नितान्त अभाव है। यह अभाव भी एक ऐसी भाषा में है जिसके साहित्य, व्याकरण और शिलालेख द्रविड़कुल की भाषाओं में सबसे प्राचीन हैं। अतएव आद्य द्रविड़ ध्वानिक लक्षणों को तलाशने के लिए तमिल सर्वाधिक सुरक्षित भाषा है। आर्य परिवार के भाषा-केन्द्रों से सर्वाधिक दूरी भी तमिल की है तब यह स्वाभाविक है कि इस केन्द्र से निकटतम द्रविड़कुल की भाषाओं में महाप्राण ध्वनियों का व्यवहार उसके अपेक्षाकृत ज्यादा हो। तमिल के प्राचीन व्याकरण तोल्काप्पियम् के अनुसार क्, च्, ट्, त्, प् के केवल अल्पप्राण अघोष रूप थे, अन्य रूप नहीं। महाप्राण तो तमिल में आज भी नहीं हैं। आर्य भाषाओं के ठीक पड़ोस में कन्नड़ और तेलुगू में महाप्राणों का सीमित प्रयोग होता है। आर्य-आस्ट्रिक के लगे-लिपटे इलाकों में मौजूद कुड़ुख और मल्टो में प्रायः अघोष महाप्राणों का व्यवहार होता है। सघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का तो द्रविड़ परिवार की भाषाओं में नितान्त अभाव है। यदि कुड़ुख में 'ख' और 'ख' ध्वनियों से प्रारम्भ होनेवाले शब्दों को एक साथ जोड़ लें तो इनकी संख्या घ, ध, भ से शुरू होनेवाले शब्दों से लगभग दुगुनी है।

मुण्डा भाषाओं की प्रकृति भी अल्पप्राणवाली है। मुण्डारी में महाप्राण की अपेक्षा अल्पप्राण का प्रयोग अधिक होता है। हो भाषा में तो महाप्राण ध्वनियाँ प्रयुक्त ही नहीं होती हैं। उत्तेजना या क्रोध में कभी-कभी अल्पप्राण की जगह महाप्राण का उच्चारण सुनने को मिलता है। संथाली में भी महाप्राण ध्वनियाँ शब्दों के अन्त में आने पर बहुधा अल्पप्राण हो जाती हैं जैसे सुक (सुख), माग (माघ), हात (हाथ), लाब (लाभ) आदि।

नाग परिवार की भाषाओं का स्वभाव भी महाप्राणों को लेकर द्रविड़-मुण्डाकुल की भाषाओं से मिलता-जुलता है। महाप्राणता नाग-परिवार का भी मूल लक्षण नहीं है। इस परिवार की प्रायः भाषाएँ सघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का व्यवहार नहीं करती हैं। लोथा, आदी, तरावँ, काबुइ, हमार, पोचुरी, लियांगमाई, फोम, त्रिपुरी, मिजो, चांग,

कुकी, माओ, सांगतम, रेंगमा, कोन्चक आदि भाषाएँ घ, ध, भ का प्रयोग नहीं करती हैं। मिरी (मिसिंग), कार्बी (मिकिर), दिमासा कछारी जैसी आसाम की जनजातीय भाषाओं में इन ध्वनियों का सीमित प्रयोग पाया जाता है। यह प्रयोग भी प्रायः उधार लिए गए शब्दों में है। आसाम के बोड़ो भाषा में सघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का अभाव है। यह भाषा भी आर्यमूल से लिए गए शब्दों में ही इन ध्वनियों का यदाकदा प्रयोग करती हैं जैसे धुन्दिया (धनिया), भूहत (भूत), भुथरा (धार-रहित) आदि। ऐसे ही मणिपुरी घ, ध, भू बाद में मिलाए गए हैं। यही हाल 'झ' का भी है। मिजो इससे भिन्न नहीं है तभी तो मिजो लोग 'भाई' को 'वाई' कहते हैं।

ऐसा केवल सघोष महाप्राण स्पर्श व्यंजनों के साथ है जबकि अघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का प्रयोग इसमें बहुतायत से होता है। ये ध्वनियाँ तो इसके अपने शब्दों में हैं ही, दूसरी भाषाओं से लिए गए शब्दों में जहाँ अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनियाँ हैं वहाँ यह अघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों में बदल देने की प्रवृत्ति रखती है यथा पगला = फागुला, पताल = फाताल, पाप = फाप, पाकड़ = फाकूरी आदि। बावजूद इसके इन शब्दों की महाप्राणता अर्थभेदक नहीं है। बोड़ो में ख् और फ् संघर्षी रूप भी विद्यमान है।

लेप्चा, लिम्बु और खासी में सघोष महाप्राणता का लक्षण पड़ोसी उत्तर भारतीय भाषायी क्षेत्र की ओर से प्रविष्ट हुआ है। वे भाषाएँ जिनमें सघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का अभाव है, वे इन ध्वनियों से युक्त उधार लिए गए शब्दों में किसी दूसरी स्थानापन्न ध्वनियों का इस्तेमाल करती हैं। ये स्थानापन्न ध्वनियाँ नाग ध्वनितंत्र के अनुकूल होती हैं। संस्कृत 'धर्म' के लिए इन भाषाओं में प्रयोग होनेवाले शब्दों को नमूने के तौर पर देखा जा सकता हैथोरोम (गारो), दोरमो (आदी), दामो (दिमासा), दम (मिरी) आदि। 'भात' को तांगखुल में 'जात' कहा जाता है। हिन्दी 'धनु' (कमान) के लिए खेजा भाषा में 'तेनु' है, मिरी में 'देनु' है। बोड़ो में सघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों को सघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनियों में बदलकर अपनाने की प्रवृत्ति है यथा ओजा (ओझा), बाहरा (भाड़ा) आदि।

भारत की इद्र, तरावँ, मोंपा, लोथा जैसी नाग भाषाओं में ख्, थ्, फ् का व्यवहार होता है। अघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों के मामले में यह परिवार लचीला रुख अख्तियार करता है। पुरानी मणिपुरी लिपि 'मैते मयेक' कहलाती है। मणिपुर के मैदानी भाग में अधिकांश लोग मैतेई जाति के हैं। ये लिपि को 'मयेक' कहते हैं। मणिपुर की लिपि प्राचीन मानी जाती है। कुछ विद्वान् तो इस लिपि को 2 हजार वर्ष पुराना तक मानते हैं। बारहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध किए गए तीन ग्रन्थों की पाण्डुलिपि प्राप्त हैं जो मैते मयेक में कलम से स्याही द्वारा लिखे गए हैं। ये तीनों ग्रन्थ 'पान्थोइवी खोङ्गुल' 'नुमित काप्पा' और 'पोइरैतोन खुन्चोक' प्रामाणिक माने जाते हैं। 'नुमित काप्पा' में 'ख' वर्ण मिलता है, 'पोइरैतोन खुन्चोक' में 'फ' वर्ण और है।

ऐसे में नाग भाषाओं में अघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का प्रचलन पुराना माना जा सकता है। बावजूद इसके ख्, थ्, फ् को नाग भाषा परिवार की मूल ध्वनि नहीं मानी जाती है।

माना यह जाता है कि नाग-परिवार की महाप्राणता अर्थ-विच्छेदक नहीं होती है। काम (धंधा) के लिए गारो में खाम है और कारबार के लिए दिमासा में खारबार है। कार्बी का 'का' (संवत्) दिमासा में 'खा' (संवत्) है। मिजो और हमार भाषाओं का 'कुत्' (बाँह) पाइते और कुकी में 'खुत्' (बाँह) है। इसका सांगतम प्रतिरूप 'खे' है। पैर को मिजो में 'का' कहा जाता है, पाइते में 'खे' कहा जाता है। पीने के लिए लियांगमाई में शब्द है 'थी', तरावँ में 'तिम्'। दिमासा में पापी और फाफी का उच्चारण एक साथ चलता है। दिमासा भी गारो की तरह अल्पप्राण 'त्' को 'थ्' में परिवर्तित करती है और यह महाप्राणीकरण की प्रक्रिया अर्थ में कोई हेरफेर नहीं करती है। हिन्दी में प्रचलित देशी-विदेशी शब्दों के आदिस्थानीय 'त्' की जगह 'थ्' के इस आगम को इन भाषाओं में देखा जा सकता है यथा गारो में तमाशा-थमासा, तम्बाकू-थमाखु, तम्बू-थम्बु आदि और दिमासा में तख्ता-थोकता, ताँगा-थाङ्गा, ताँबा-थामा आदि। भोटी में मजद् और मछद् समानार्थी शब्द हैं। दोनों का अर्थ अतिरिक्त होता है।

भोटी का ज और छ संघर्षी ध्वनियाँ हैं। नाग परिवार की कुछ भाषाएँ संघर्षी ध्वनियों का व्यापक प्रयोग करती हैं। ऐसा नहीं है कि इस परिवार की सभी भाषाओं की ध्वनिप्रकृति एक-सी है। संघर्षी अघोष महाप्राण ख्, थ्, फ् का व्यवहार कुछ नाग भाषाओं में कम है, कुछ में ज्यादा है, कुछ में नहीं भी होता है। संस्कृत तथा अधिकांश आधुनिक आर्य भाषाएँ संघर्षी ध्वनियों का व्यवहार नहीं करती हैं, ये उनके स्थान पर काकल्य महाप्राण ध्वनि 'ह्' से काम लेती है। ख् वाली ध्वनि पूर्वी बंगाल में है, फारसी में है, रूसी में है। संघर्षी फ् पूर्वी बंगाल की बोलियों में है, फारसी में है, जर्मन समुदाय की भाषाओं में है। संघर्षी थ् का व्यवहार क्षेत्र उपर्युक्त दोनों के सापेक्ष सीमित है।

नाग परिवार की भाषाओं में संघर्षी च् छ् ज् झ् का भी व्यवहार होता है।

भारत की आर्य भाषाओं में मराठी और कश्मीरी संघर्षी च् का व्यवहार करती हैं। कश्मीरी और मराठी के क्रमशः चूँट (सेब) और चोर (चोर) शब्दों में यह ध्वनि देखी जा सकती है। तेलुगू के मंचु (पलंग) में भी यह ध्वनि है। यह अघोष, अल्पप्राण, दन्तमूलीय एवं स्पर्शसंघर्षी ध्वनि है। छ् अघोष, महाप्राण, दन्तमूलीय एवं स्पर्शसंघर्षी ध्वनि है। कुछ नाग भाषाओं में संघर्षी छ् का व्यवहार होता है। कश्मीरी और मराठी में भी यह ध्वनि है। सघोष संघर्षी ज् का व्यवहार नाग परिवार की भाषाओं में अघोष संघर्षी 'छ्' से ज्यादा व्यापक है। तरावँ, लोथा, पोचुरी, खेजा, यिमचुंगर जैसी नाग भाषाएँ इसका व्यवहार करती हैं। पूर्वी बंगाल की बोलियों तथा मराठी में भी इसका प्रचलन है। उत्तर में कश्मीरी और पूरब में असमिया इसका व्यवहार करती हैं। द्रविड़

परिवार की तेलुगू के जोलपाट (लोरी) जैसे शब्दों में इसका चलन है। भारत के बाहर फारसी, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाएँ इसका प्रयोग करती हैं। झ ध्वनि सघोष, महाप्राण, दन्तमूलीय एवं स्पर्शसंघर्षी है। इसका आंतरराष्ट्रीय ध्वनिलेखन चिह्न 'zh' है। नागालैण्ड की भाषाओं में इसका सर्वाधिक प्रयोग होता है।

उत्तरी द्रविड़ भाषाओं के बारे में यह कहा जाता है कि वे आदिस्थानीय अघोष स्पर्श 'क्' को प्रायः 'ख्' में बदल देती हैं। तमिल का कण् (आँख) कुडुख में 'खन्' है। तमिल का कुत्तु (खोदना) ब्राह्म में 'खुत्तिड्' है। कुडुल भाषा की एक बोली जो उड़िया के गंगपुर में बोली जाती है, यह प्रायः कुडुख की 'ख्' ध्वनि को 'ह्' में बदल देती है। कुडुख का 'खेखेल' (पृथ्वी) बरगा में 'हेहेल' है, खेखा (हाथ) हेखा है, खेडु (पैर) हेडु है। यह प्रवृत्ति नाग भाषाओं में भी है। गारो में घर को 'नोक' भी कहा जाता है, 'नोख' भी। लिम्बु में घर को 'खिम्' भी कहा जाता है, 'हिम्' भी। यह संघर्षीकरण की प्रवृत्ति है।

संघर्षीकरण की प्रवृत्ति नाग परिवार की भाषाओं की ध्वनिप्रकृति की उल्लेखनीय विशेषता है। भोटी भाषा में दन्तमूलीय स्पर्शसंघर्षी तथा कठिन तालव्य स्पर्शसंघर्षी ध्वनियों का व्यवहार अर्थ-विच्छेदक है, ऐसा हिन्दी में नहीं है। च्, छ्, ज् और च्, छ्, ज् का अर्थ-विच्छेदक प्रयोग इस भाषा में काफी मिलते हैं यथा जवो (अंगभंग)जवो (दोस्त), जे (अयाल)जे (कुष्ठ), चोदपा (आचार)चोदपा (बहस), छा (मालूम)छा (नमक) आदि। ऐसी प्रवृत्ति कश्मीरी में भी है। कश्मीरी में संघर्षीकरण की वजह से ही जहाँ भारतीय आर्य उद्भव के शब्दों में 'ज्' है, वहाँ 'ज्' हो गया है, यथा ज्जंजं, जगत-जगथ, जीव-जीव, ज्जाला-ज्जाला। कश्मीरी में 'ज्' के अलावा 'च्' भी है जैसा कि हम मराठी और असमिया में पाते हैं। कश्मीरी का 'च्' का भी आर्य उद्भव के कई भारतीय शब्दों में 'च्' स्थान लेता है यथा चम-चम, चरण-चरन, चिता-चयून्ता, चित्त-चयूथ। कश्मीरी 'लछ्' (धूल) में 'छ्' भी दन्तमूलीय स्पर्शसंघर्षी है। तात्पर्य यह कि कश्मीरी, मराठी जैसी भाषाओं में च वर्ग का दंत्य स्पर्शसंघर्षी उच्चारण नाग भाषाओं का प्रभाव है। अन्य आर्य भाषाओं में ये ध्वनियाँ तालव्य स्पर्शसंघर्षी हैं।

राजतरंगिणी के हवाले से बताया गया है कि पिशाच तथा नाग जातियाँ कश्मीर की मूल निवासी थीं। शायद यही कारण है कि कश्मीरी भाषा और साहित्य का उद्भव एवं विकास को रेखांकित करते वक्त 500 ई. पूर्व तक के कालखण्ड को 'नाग-पिशाच काल' कहा जाता है। कश्मीरी को 'दरद' के अन्तर्गत रखा जाता है। दरद भाषाएँ पश्तो के समान रचना की दृष्टि से भारतीय और ईरानी के मध्यगत हैं। पश्तो का झुकाव ईरानी की ओर है जबकि दरद भाषाओं का भारतीय की ओर। यदि संघर्षी ध्वनियों का आधार हमें स्वीकार हो तो नाग परिवार की भाषाओं की कई विशेषताएँ कश्मीरी में हैं और कश्मीरी की कई विशेषताएँ ईरानी में हैं। प्राचीन ईरानी और पुरानी

फारसी में झ्, ड्, ख् जैसी संघर्षी ध्वनियाँ बहुत हैं।

ईरान की प्राचीन भाषा 'अवेस्ता' की एक जानी-पहचानी ध्वनि-प्रवृत्ति है, 'स्' का 'ह्' होना यथा, सेना-हएना, शुष्क-हुश्क, यासु-याहु, सप्त-हप्त। यह ध्वनि-प्रवृत्ति कश्मीरी में भी है, यथा, तीस-तुंह, बीस-बुह, सेम-हयमुं, सिर-हीर। कश्मीरी की यह प्रवृत्ति उतनी प्रबल नहीं है जितनी की ईरानी में है। नाग भाषाएँ भी आर्यमूल के भारतीय शब्दों के साथ ऐसा करती हैं। आदी भाषा में सोमवार को हूमवार तथा सनीवार को होनिवार कहा जाता है। ऐसे और भी उदाहरण मिलेंगे, यथा सप्ताह-हाफूता (मिजो), सोना-होन (फोम), स्थान-हाथानी (दिमासा)। 'स्' और 'ह्' का यह परस्परान्तरण एक भाषा के प्रतिरूप शब्दों में भी सम्भव है और एकाधिक भाषाओं के प्रतिरूप शब्दों में भी। मिरी में स्वर्ण के लिए सुन और हुन दोनों चलते हैं। दिमासा का 'सेम' (लवण) कोन्यक और फोम में 'हेम' हो गया है। द्रविड़ भाषाओं में शब्द के आरम्भ में आनेवाला सकार कभी 'त्' रूप धारण करता है, कभी 'च्' तो कभी 'क्' रूप। इसका कई शब्दों में लोप भी हो जाता है। नाग परिवार की कुछ भाषाओं में 'स्' का 'च्' हो जाता है, कुछ में 'च्' का 'स्' हो जाता है। आदी भाषा में 'च' का 'स' होना सामान्य है, यथा चटनी-सातोनी, चन्दा-सान्दा, चादर-सादोर, चाबी-साबी, चाय-साड्, चीनी-सेनी, चील-सिला, चूना-सून आदि। ऐसा बोड़ों में भी है। बोड़ों में 'च्' से आरम्भ होनेवाले अनेक शब्द हैं जो स् से बोले जाते हैं। 'छ्' भी 'स्' में परिवर्तित होता है। बोड़ों में 'छाया' को 'साया' बोलते हैं ऐसा फारसी में भी है। नाग भाषाएँ पश्चिमोत्तर भारत में भी बोली जाती हैं, तब फारसी की अघोष महाप्राण संघर्षी ध्वनियाँ विचारणीय हैं। दूसरी ओर मिरी भाषा में 'स' को 'च' में परिवर्तित होते हुए लक्षित किया जा सकता है, यथा पुलिस-पुलिच, पेंसिल-पेंचिल, कसाई-काचाई आदि। एक में स्पर्शसंघर्षी को संघर्षी बनाने की प्रवृत्ति है, दूसरे में संघर्षी को स्पर्शसंघर्षी बनाने की प्रवृत्ति है। द्रविड़ भाषाओं में ऐसा नहीं है। वहाँ सकार की जगह स्पर्श ध्वनियों के व्यवहार की प्रवृत्ति है।

असमी भाषा तिब्बती-बर्मी भाषाओं से या कहेँ पूर्वोत्तर की नाग भाषाओं से ध्वनि-व्यवस्था, शब्द-समूह तथा वाक्य-गठन की दृष्टि से कुछ प्रभावित है। इसमें जहाँ लिखित शब्द में च् या छ् आता है वहाँ उसका उच्चारण अन्तस्थ स् की तरह होता है जैसे चागु (सागु), चोताल (सोताल)। यह एक प्रकार से वर्तनीगत अशुद्धि है वरना यह नाग परिवार की भाषाओं की वही प्रवृत्ति है जिसके अन्तर्गत वे स्पर्शत्व का लोप करके स्पर्शहीन ध्वनि का व्यवहार करने लगती हैं। मिरी भाषा के सकार को चकार में बदल देने की प्रवृत्ति को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए जैसा कि हम असमिया में पाते हैं। असमिया में सकार को चकार कर देने की प्रवृत्ति प्रबल है, यथा सागौन-चेगुन, संदूक-चन्दुक, साबुन-चाबोन, सजा-चाजा, सुराही-चुराइ आदि।

असमिया का यह 'च' औच्चारणिक धरातल पर अन्तस्थ 'स्' है। इस अन्तस्थ

‘स्’ में दन्त्य ‘स्’ के बजाय संघर्षतत्व कम होता है। ‘ह्’ में संघर्ष और कम होता है। ऐसे ही व्यंजनत्व सबसे अधिक स्पर्शों में है, फिर स्पर्शसंघर्षों में तब संघर्षों में। अन्तस्थ ध्वनियाँ ऐसी हैं जो स्वर और व्यंजन के बीच खड़ी हैं। नाग भाषाएँ स्पर्श ध्वनियों को कभी स्पर्शतत्वविहीन करके ‘ह्’ में तो कभी संघर्षतत्वविहीन करके अन्तस्थ में बदल देती हैं। कई मामलों में इन दोनों का लोप भी करती हैं।

स्पर्श ध्वनियों को संघर्षी रूप देने की प्रवृत्ति नाग भाषाओं में प्रबल है। वयु भाषा में घर के लिए एक शब्द है ‘किम्’ जिसका एक उच्चारण ‘कम’ भी है। ‘किम्’ लिम्बु में ‘खिम्/हिम्’ है, तांगखुल में ‘सिम’ है। ‘कम’ कार्बी में ‘हम’ है। नागालैण्ड की कई भाषाओं में ‘घर’ के लिए वायु भाषावाली ‘क्’ ध्वनि चलती है। घर को रेंगमा में ‘का’, सांगतम में ‘कु’ और खेजा में ‘के’ कहा जाता है। इसी प्रदेश की कुछ भाषाओं में इसका संघर्षी या स्पर्शसंघर्षी ध्वनिवाला प्रतिरूप शब्द चलते हैं। चांग का ‘चम्’ और फोम का ‘शम्’ ऐसे ही शब्द हैं। गारो में तो नोक और नोख दोनों साथ-साथ चलते हैं।

घर-गाँव से सम्बन्धित नाग भाषाओं के शब्दों को इण्डोयूरोपियन परिवार के शब्दों के साथ जोड़कर देखना रोचक होगा। लिथुआनियन ‘केइमास’ तथा ग्रीक का ‘कोमे’ गाँव के बोधक शब्द हैं। त्रिपुरी में गाँव को ‘कामि’ कहा जाता है। जैसे घर के लिए जेलियांग में ‘की’ है, रेंगमा में ‘का’ है, वैसे गाँव के लिए कुकी में ‘खो’ है, तांगखुल में ‘खा’ है। गाँव-घर सम्बन्धित शब्द हैं। गाँव के लिए डच का ‘हाइम’ स्वीडिश का ‘हम’, गॉथिक ‘हइम्स’ को घर के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी ‘होम’, ऐंग्लो सैक्सन ‘हाम’, फ्रीजियन ‘हैम’ के साथ रखकर देखा जाना चाहिए। मिकिर का ‘हम’, लिंबु का ‘हिम्’ घर के बोधक शब्द हैं। हमार में ‘खो’ गाँव का बोधक है, तिब्बती में ‘खिम्’ घर का बोधक है।

शब्दों के आरम्भ में जिन ध्वनियों का अर्थ-विच्छेदक प्रयोग होता हो, उन्हें किसी भाषा-परिवार के ध्वनितंत्र का अभिन्न अंग मानना चाहिए। वे भले ही किसी समय अन्य भाषा-केन्द्रों से प्राप्त हुई हों, अब उनकी गिनती उस भाषा परिवार की मूल ध्वनि-सम्पदा में होगी। देखा जाना चाहिए कि भारत की नाग भाषाएँ स्पर्श अघोष ध्वनियों तथा स्पर्श सघोष ध्वनियों का अर्थ-विच्छेदक व्यवहार करती हैं अथवा नहीं। यदि शब्दों के आरम्भ में नाग भाषाएँ क्, त्, प् और ग्, द्, ब् का अर्थ-विच्छेदक प्रयोग करें तब यह माना जाना चाहिए कि ग्, द्, ब् भी नाग भाषा-परिवार के लिए क्, त्, प् की तरह मूल ध्वनियाँ थीं। मिसाल के लिए पाइते भाषा के कुछ शब्दों को लिया जा सकता है, यथा कुम् (आयु)गुम् (कर्कश), केन् (ढलुआँ)गेन् (कहना), कोङ् (कटि)गोङ् (पतला), ताक् (करारा)दाक् (घंटी), तान् (कतरन)दान् (कायदा), पूक् (ठहरना)बूक् (ओसारा), पिल् (मनीषी)बिल् (कान) आदि। चीनी में ऐसा नहीं है। वहाँ प्रायः सघोषता का लक्षण अर्थभेदक नहीं होता है तभी तो ‘याङत्सी’ को

‘काङ्’ भी कहते हैं, ‘गाङ्’ भी। ‘काङ्’ और ‘गाङ्’ में कोई फर्क नहीं है। ऐसा अर्थ-विच्छेदक व्यवहार अघोष अल्पप्राण एवं अघोष महाप्राण के बीच भी है यथा, तोम् (उछलना)थोम् (कोलाहल), काङ् (सफेद)खाङ् (उगना), केन् (ढलुआँ)खेन् (अलग) आदि। बावजूद इसके नाग भाषाओं में सघोष महाप्राण ध्वनियों का व्यवहार अर्थ-विच्छेदक नहीं है। ऐसा मुण्डा परिवार की भाषाओं में भी है। तब माना जाना चाहिए कि नाग भाषाओं में महाप्राणता की अपेक्षा सघोषता के लक्षण ज्यादा प्रभावशाली हैं।

प्रभावशाली का मतलब यह नहीं कि सघोषता नाग भाषाओं की मूल प्रवृत्ति है। इनमें सघोषता का विकास हुआ है और यह विकास महाप्राणता की अपेक्षा ज्यादा है। लुशाई में द् और ब् तो हैं किन्तु ग् नहीं है। बर्मी भाषा शब्दों के आरम्भ में ग्, द्, ब् का व्यवहार नहीं करती है। तिब्बती में शब्दों में अन्त में ग्, द्, ब् लिखे तो जाते हैं पर बोले नहीं जाते। यह प्रवृत्ति बोड़ो में है। बोड़ो शब्दों के अन्तवाला ग्, द्, ब् का उच्चारण अघोष होता है। मणिपुरी में ग्, द्, ब् व्यंजनों का प्रयोग शब्दों के मध्य में होता है। यह ग्, द्, ब् मणिपुरी के मूल व्यंजन नहीं हैं ठीक वैसे ही जैसे द्, ढ्, ड्, ढ्, ण्। निष्कर्ष यह कि सघोषता नाग भाषाओं की मूल प्रवृत्ति नहीं है।

कुरु जनपद को र्-क्षेत्र माना जाता है और मगध को ल्-क्षेत्र। पहले मागधी में केवल ‘ल्’ था। आज असमिया में ‘ल्’ से ‘र्’ में परिवर्तन की अपेक्षा ‘र्’ से ‘ल्’ में परिवर्तन ज्यादा होता है। पड़ोस की बिहारी बोलियों में आज स्थिति उलटी हो गई है। ल् और र् का उच्चारण-स्थान एक है पर ‘ल्’ के उच्चारण में जिह्वानोक वर्त्स या मसूड़ों को छूती रहती है जबकि ‘र्’ के उच्चारण में जिह्वानोक दो-तीन बार वर्त्स या मसूड़े को बहुत शीघ्रता से छूती है। ‘ल्’ का उच्चारण ‘र्’ की अपेक्षा सरल है। मणिपुरी में जिन मूल 15 व्यंजनों को शामिल किया जाता है उसमें ‘ल्’ है पर ‘र्’ नहीं है। ऐसे भी मणिपुरी में ‘र्’ का आदिस्थानीय प्रयोग नहीं होता है। चीनी भी र-वाले आर्यमूल के शब्दों के रूपान्तर में लकार का व्यवहार करती है। गारो इससे भिन्न है। यह ‘र्’ ध्वनि पसन्द करती है। इसीलिए आर्यमूल या बाहरी शब्दों के रूपान्तर में इसके यहाँ ‘ल्’ की जगह ‘र्’ मिलता है। यह आर्य भाषाओं का प्रभाव है तभी तो गारो अनेक नाग भाषाओं की तरह शब्दों के आरम्भ में ‘ङ्’ का भी व्यवहार नहीं करती है और इससे मजेदार बात तो यह है कि यह भाषा च्-ज् का असंघर्षी व्यवहार करती है जबकि असमिया इसके विपरीत है। संधाली में ‘र्’ और ‘ल्’ इन दोनों का परिवर्तन सामान्यतः ‘ङ्’ में होता है। इसलिए गारो पर आर्यप्रभाव की बात दमदार लगती है।

स्वरो को लेकर मणिपुरी में दो बातें सामने आई हैं। एक यह कि स्वर इसमें बाद में मिलाए गए जबकि मात्राएँ थीं। दूसरी ओर कई भाषा वैज्ञानिकों की राय है कि अ, इ और उ स्वर मणिपुरी में थे। ऐसे में 15 मूल व्यंजनों को इनमें जोड़ देने से मणिपुरी में कुल मिलाकर वर्णों की संख्या 18 हो जाती है। ‘मीतै मयेक’ में एक

‘अंजि’ वर्ण की भी चर्चा होती है। इसका प्रयोग ‘ऊँ’ तथा ‘श्री’ के स्थान पर मंगलचिह्न के रूप में किया जाता था। बताया जाता है कि इसका उच्चारण नहीं होता था और आज इसका प्रयोग भी उपलब्ध नहीं है। इसकी तुलना एक प्राचीन भारतीय आर्यों के मंगलचिह्न स्वस्तिक (ॐ) से करना रोचक होगा जिसका उच्चारण नहीं होता है बावजूद इसके यह चिह्न शुभअवसरों पर दीवारों, कलश आदि पर अंकित किया जाता है। इसे ‘सथिया’ कहते हैं। सामुद्रिक शास्त्र बताता है कि यह चिह्न देवताओं के तलुए में रहता है। तब यह सम्भव है कि कभी इसका उच्चारण होता हो।

नाग परिवार की अधिकांश भाषाएँ ‘अ’ (ü) स्वर का प्रयोग करती हैं। यह हिन्दी के ‘अ’ और ‘आ’ के बीच का स्वर है। लोथा भाषा में ‘अ’ से प्रारम्भ होनेवाले कई शब्द हैं जैसे अंमेन (पाप), अंमेना (नष्ट करना), अंम्हा (गठरी), अंनी (जिह्वा)। द्रविड़ भाषाएँ इस स्वर का प्रयोग नहीं करती हैं। आर्य परिवार की भाषाओं में यह स्वर केवल कश्मीरी में स्वतन्त्र रूप से आता है, यथा अंथू (हाथ), लंटू (पूँछ), अंनु (दर्पण) आदि। यह प्रसारित ओष्ठ, पश्च, अर्द्धविवृत ध्वनि है। बंगला का ‘अँ’ या उर्दू का ‘अँ’ प्रसारित ओष्ठ, अग्र, अर्द्धविवृत ध्वनि है यथा बंगलाएकटा (अँकटा), उर्दूमहल (मँहल)। इनमें यह स्वर केवल ध्वनिलेखन तक सीमित है। तब यह बात साफ होती है कि कश्मीरी का स्वर ‘अ’ नाग भाषाओं की देन है।

द्रविड़ परिवार की भाषाओं में ए और ओ के केवल दीर्घ ही नहीं अपितु ह्रस्व रूप भी मिलते हैं। ये दोनों ह्रस्व ध्वनियाँ (एँ और ओँ) तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड़ की विशेष ध्वनियाँ हैं। नाग परिवार की भाषाएँ भी ए और ओ के ह्रस्व रूपों का व्यापक प्रयोग करती हैं। लोथा, मिजो, पोचुरी, कुकी, सांगतम, चांग, कोन्चक, फोम जैसी नाग भाषाएँ इन ध्वनियों का धड़ल्ले से व्यवहार करती हैं। आर्य परिवार की संस्कृत, हिन्दी तथा पंजाबी में इन स्वरों का व्यवहार नहीं होता है। पर हिन्दी की लोक बोलियाँ इसके अपवाद हैं। प्रायः बोलियों में इन ह्रस्व ध्वनियों का प्रचलन है। संस्कृत के ए और ओ केवल दीर्घ हैं। ये ए और ओ भी शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनियुग्मों से जनित हैं। यह संयुक्त स्वरों की भारत-ईरानी प्रणाली का टूटना है जो स्वयं बाद में मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में ‘ऐ’ और ‘औ’ के रूप में परिणत हो जाती है।

## संदर्भ

1. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (तीन भाग) डा. राम विलाश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. नागालैण्ड भाषा परिषद, कौहिमा द्वारा प्रकाशित कोश एवं व्याकरण ग्रन्थ, परिषद ने नागालैण्ड, असम, मणिपुर, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम, सिक्किम, विहार आदि की 41 भाषाओं के कोश, 24 की शब्दावलियाँ, 19 के व्याकरण प्रकाशित किया है।

## पाठकीय प्रतिक्रिया

**आ**पकी ‘चिन्तन-सृजन’ पत्रिका वात्स्यायन के शब्दों में कहें तो अतिशय ‘वेदना-कारक उल्लास’ की प्रदाता है। कारण कि इतने शोध परक साथ ही रोचक लेख, भारतीय अस्मिता और आत्मबोध को उद्देलित करने वाली चर्चाएँ, ज्ञानवर्धक तथा सूचना संवर्धक प्रलेखन - आखिर कब ऐसा होगा कि आपकी पत्रिका करोड़ों हिन्दी-भाषियों तक पहुँच पाएगी? इतने उपयोगी तथा सत्य-शिव-सुन्दर से परिपूर्ण प्रस्तुति के लिए हार्दिक बधाई स्वीकारें। - **श्री ज्ञानचन्द्र, श्री अरविन्द चेतना समाज, दिल्ली।**

‘चिन्तन-सृजन’ जनवरी-मार्च, 2005 का अंक मिल गया, धन्यवाद! डॉ. राजमल बोरा से मेरा परिचय तब से है जब मैंने कहानी संग्रह ‘गलत-हाथ’ 1970 में प्रकाशित करवाया था। उस पर उनकी प्रतिक्रिया से मैं जान गया था, यदि हम ज्ञानाभिवृद्धि चाहते हैं तो ऐसे विद्वान को नजरअंदाज नहीं कर सकते। सबसे पहले उनका लेख ‘पिशाच भाषा का भूगोल’ पढ़ गया। मैंने लगभग उन्नीस सौ अठहत्तर में लिखना बंद कर दिया था। वैसे तो अब भी है, उस समय कुछ ज्यादा साहित्य क्षेत्र गुटबंदी का शिकार था। अब थोड़ा बहुत स्वतंत्र विचार के अनुसार कार्य हो रहा है। हो सकता है, जल्दी प्रकाशन का क्षेत्र भी उस लानत से मुक्त हो जाए। लिखने, पढ़ने और विचार के अतिरिक्त अपने आपको व्यस्त रखने के लिए मेरे पास कोई दूसरा काम नहीं है। इसलिए ‘हिन्दी में विचार’ डॉ. मुकुन्द लाठ का लेख तन्मयता से पढ़ा। यह साहित्य को, लगता है, स्पष्ट दिशा देता है। साहित्यकार को उसकी पहचान करवाने के लिए उस लेख का प्रचार-प्रसार होना चाहिए! क्योंकि किसी भाषा को दर्जा उसका साहित्य दिलाता है। मैंने आज तक सुना जरूर था श्री नरेन्द्र कोहली को पढ़ा नहीं था। ‘अपने सृजन से गुजरते हुए’ उनका लेख पढ़ते हुए लगा, एक जगा हुआ व्यक्ति मनुष्य को उसकी हैसियत की पहचान करवा रहा है। अब उनकी अन्य रचनाओं को भी मौका मिला तो पढ़ूंगा। उत्तर-पूर्व भारत में नेताओं की अदूरदर्शिता ने कैसी स्थिति पैदा कर दी है? आपका संपादकीय पढ़कर कटु अनुभव होता है। - **केशिकान्त, क्यू-25, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला।**

‘चिन्तन-सृजन’ - वर्ष 2, अंक 4 अप्रैल-जून 2005 का अंक मिल गया है। पढ़ गया हूँ। अब ‘चिन्तन-सृजन’ का स्वरूप गंभीर होता जा रहा है। खुशी की बात है। उक्त अंक में सत्यमित्र दुबे का लेख पढ़ गया हूँ। चीन के प्रति लेख - बहुत कम

मिलते हैं। लेख में सामान्य परिचय होने पर भी - इतिहास को समेटने का प्रयत्न है। आधुनिक चीन को समझने में लेख उपयोगी है। इसी तरह डॉ. परमानन्द पांचाल का लेख *मिनिकाय की भाषा 'महल' और उसकी लिपि 'दिवेही'* - नई जानकारी देनेवाला है। मलयालम भाषा से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। उक्त भाषा का नाम 'महल' क्यों है? दक्षिणकी भाषाओं में 'हकार' (ह् ध्वनि) का प्रयोग विरल रूप में होता है। किन्तु सकार, चकार के स्थान पर उक्त भाषा में हकार के रूप मिलते हैं। इसी तरह 'दिवेही लिपि' के वर्ण फारसी वर्णमाला के हैं और जिनका स्वरूप 'उर्दू' सदृश है। ऐसा होने पर उस वर्णमाला में स्वरों के चिह्न फारसी वर्णमाला सदृश होने पर भी उसके लिखने की पद्धति देवनागरी सदृश है। उस लिपि के नामकरण में भी 'हकार' है। क्या यह हकार अकार का रूप है? बोली को जब तक सुन न लें तब तक ठीक से समझना मुश्किल है। 'शंकरदेव' पर लिखा डॉ. धर्म देव तिवारी का लेख भी अच्छा है। शंकर देव ने उस समय 16वीं शताब्दी में 'ब्रजभाषा' में लिखा है। मीरा ने ब्रजभाषा में लिखा या राजस्थानी में या गुजराती में? - कहना आज भी कठिन है। उसको ख्याति ब्रजभाषा में अधिक मिली है। गुजराती साहित्य के इतिहास में 'मीरा' का नाम है और राजस्थानी के साहित्य के इतिहास में भी नाम है। सोलहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा का भौगोलिक विस्तार पश्चिम में गुजरात तक, पूर्व में असम तक और दक्षिण महाराष्ट्र तक हो गया था। मुगल काल ब्रजभाषा के उत्कर्ष का काल है। अस्तु।

'डॉयलॉग' का स्तर काफी ऊँचा है। उस ऊँचाई तक 'चिन्तन-सृजन' पहुँचेगा। मैं डॉयलॉग में भूटान और सिक्किम की जानकारी वाले लेखों की खोज में हूँ। तिब्बत पर भी लेख आने चाहिए। हमें अपने देश के पड़ोसियों का परिचय चाहिए। ऐसा प्रयास डॉयलॉग करता है। नक्सलवाद पर नई सामग्री ताजे अंक में है। 'डॉयलॉग' की सामग्री योजनाबद्ध है। बधाई देता हूँ। डॉ. लोकेश चन्द्र ने मुझे डॉ. रघुवीर के कुछ ग्रंथ दिए हैं। उनमें मैंने डॉ. रघुवीर की चीन यात्रा के सम्बन्ध में खोजपूर्ण सामग्री पढ़ी है। उस पर लेख लिख सका तो आपको भेजूंगा। - डॉ. राजमल बोरा, 'रत्नदीप', 5, मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)।

आपकी सम्पादन-साधना के आक्षरिक प्रतीक 'चिन्तन-सृजन' (त्रैमासिक) का अप्रैल-जून, 2005 (वर्ष 2 : अंक 4) प्राप्त हुआ। ...विषय और मुद्रण की स्तरीयता के साथ 'चिन्तन-सृजन' का नियमित प्रकाशन इस महनीय पत्रिका की सर्वोपरि उपलब्धि है। इस पत्रिका की सम्पादकीय नीति की यह विशेषता सहसा हृदय का आवर्जन करती है कि ख्यातयशा प्रमुख लेखकों के सारस्वत चिन्तन से पाठक उपकृत तो होते ही है, साधनारत गौणों ('माइन्स') की उत्कृष्ट प्रतिभ प्रत्यग्रता से भी आह्लादिकारी परिचय प्राप्त होता है। इस अंक के प्रायः सभी प्रमुखों में सर्वश्री प्रो. रमेश चन्द्र शाह, प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, प्रो. सत्यमित्र दुबे, प्रो. धर्मदेव तिवारी, डॉ.

परमानन्द पांचाल, ध्रुव शुक्ल, डॉ. ई. विजयलक्ष्मी, डॉ. कामेश्वर पंकज तथा प्रणव कुमार सबकी लेखनी प्रज्ञा प्रौढ़ तो है ही, विषय व्युत्पादन में भी इनकी आत्मविश्वस्त वैचारिकी प्रभावित करती है। किन्तु, वैचारिकी की समसामयिकता की दृष्टि या उसकी अनास्वादित पूर्व वैषयिकी के खयाल से भी गौर करें तो, लक्षद्वीप के एक द्वीप 'मिनिकाय' की भाषा 'महल' और उसकी लिपि 'दिवेही' भाषिकी के अध्ययन-क्षेत्र में सर्वथा नवीन निक्षेप हैं। इसी प्रकार पूर्वोत्तर में उग्रवाद, विशेषतः बिहार के प्रति उसकी असहिष्णुता के सन्दर्भ में मैं सोचता हूँ, तो डॉ. विजयलक्ष्मी से आशा बँधती है कि वह अपने लेखकीय दायित्व का सहज ही विस्तार करेंगी। एक छोटी-सी बात, 'विषय-सूची' का शीर्षक 'अनुक्रम' उपयुक्त नहीं है। 'विषय-क्रम' उपयुक्त होगा। 'इण्डेक्स' के लिए 'अनुक्रम' उपयुक्त है। - डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पूर्व-व्याख्यता: प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली, पूर्व-उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादक: 'परिषद-पत्रिका', बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

(इस अंक से अनुक्रम के स्थान पर हम 'विषय-क्रम' का प्रयोग ही कर रहे हैं। सुझाव के लिए धन्यवाद-संपादक)

'चिन्तन-सृजन' केवल साहित्यिक पत्रिका भर नहीं है। साहित्येत्तर विषयों को इसने प्रत्येक अंकों में समाविष्ट किया है। भाषा विज्ञान, दर्शन तथा इतिहास पर महत्वपूर्ण शोध पठनीय लगे। पत्रिका ने अपने को अकादमिक होने से बचा लिया है। पूर्वोत्तर राज्यों में सक्रिय कई आतंकवादी संगठनों को साहित्यकार श्री प्रकाश मिश्र के उपन्यास "जहां बाँस फूलते हैं" के माध्यम से समझने तथा आतंकवाद के मर्म को छूने का साहसिक सृजन प्रस्तुत किया है। श्री नरेन्द्र कोहली एक प्रतिभावान रचनाकार हैं। उन्होंने अपने राम कथा पर केन्द्रित उपन्यास "दीक्षा" "अवसर" तथा "संघर्ष की ओर" द्वारा तथा राम के द्वन्द्व को आज के संदर्भ में संघर्षशील व्यक्ति के मनोविज्ञान को उपन्यास के माध्यम से विस्तृत फलक पर चित्रित किया है। स्वामी विवेकानन्द ने कभी कहा था "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं।" लेकिन यह कथन आज प्रासंगिक नहीं रह गया है। हिन्दू की आज विश्व परीदृश्य में कोई पहचान निर्मित नहीं हो पायी है। हमारी अस्तित्व ओर अस्मिता मात्र दो व्यक्तियों के अवदान पर टिकी है। एक हैं महात्मा गांधी तथा दूसरे व्यक्ति हैं बाबा साहब अम्बेदकर। - के. के. सिंह, राजमहल, जगदलपुर।

अभी-अभी 'चिन्तन-सृजन' -2004 और 2005 के दो अंक मुझे पढ़ने को मिले। परामर्श-सिमित के दो सम्माननीय सदस्य श्री निर्मल वर्मा और श्री यशदेव शल्य मेरे लिए बहुत सम्माननीय हैं। एक अंक में निर्मल वर्मा जी का आलेख था जो बहुत अच्छा लगा। पत्रिका में विविध विषयों के गम्भीर आलेख, गरिमामय ढंग से लिखे गये हैं। चिन्तन-सृजन की आलेखमयी पत्रिका भारतीय संस्कृति, साहित्य, अध्यात्म, इतिहास, भाषा-विज्ञान आदि विषयों से सम्पन्न और समृद्ध लगी। धन्यवाद स्वीकार

करें। - **रतन सिंह, नवागढ़ी(राजापारा) रायगढ़ (छ. ग.)**

‘चिन्तन-सृजन’ का अप्रैल-जून 2005 का अंक मिला, बहुत-बहुत धन्यवाद! चिन्तन-सृजन का प्रत्येकअंक रुचिकर एवं ज्ञानवर्द्धक सामग्री के साथ सुदूर लोगों तक पहुँच रहा है जिसके लिए सम्पादक महोदय बधाई के पात्र हैं। प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय की परिचर्चा “भारतीय परम्परा और नारी अस्मिता” बहुत ही रुचिकर थी। वास्तव में परम्परा के द्वारा नारी को उचित सम्मान और अधिकार मिला हुआ है, बस आवश्यक है उसका क्रियान्वयन। देश और समाज के विकास के लिए स्त्री-पुरुष सामंजस्य जरूरी है और इसके लिए जरूरी है अतीत से चली आ रही परम्परा का निर्वाह। क्योंकि कहा गया है ‘अतीत से सीखो, वर्तमान को बनाओ, भविष्य अपने-आप बनता चला जाएगा।’ **डॉ. भानु प्रताप चौबे, विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बोमडिला, अरुणाचल प्रदेश।**

इसी जनवरी में जब मैं दिल्ली में श्री नरेन्द्र कोहली जी से मिला, भारतीय संस्कृति, साहित्य की वर्तमान दशा-दिशा इत्यादि कई तथ्यों पर बातें हुई; उन्होंने आपके कार्य और पत्रिका दोनों की प्रशंसा की। - **डॉ. वरुण कुमार तिवारी, स्टेट बैंक कोलौनी, बीरपुर, सुपौल (बिहार)**

‘चिन्तन-सृजन’ का अप्रैल-जून, 2005 अंक प्राप्त हुआ, धन्यवाद। सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य में आप ने खुल कर सामयिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। और विचारणीय है कि देश में इस प्रकार आपराधिक वृत्तियों का समूल नाश कब और कैसे हो सकता है? मैं समझता हूँ कि राजनीति के झूठे बहकावे, भ्रष्टाचार और हवाला काण्डों ने जनता की भावनाओं को झंझोड़ कर रख दिया है और उसे देख कर जनता में लोभ वृत्ति पैदा हो गई है। जन सामान्य सोचता है जब नेता लोगों का इतने घपले करने पर कुछ नहीं बिगड़ता तो हमारा क्या बिगड़ेगा। राजनैतिक दलों के कारण आम आदमी में प्रेम-भाईचारा समाप्त हो गया है जिस के कारण गलत काम का एकजुट होकर विरोध न करने से बलात्कार, गुंडागर्दी आदि केशों में वृद्धि हो रही है। लोकतंत्र नाम का है। इस प्रकार अब बुद्धिजीवी को निस्वार्थ भाव से जन सामान्य को जागृत करने का दृढ़ संकल्प लेकर क्रान्ति का आवाहन करना होगा तभी देश में सच्चा लोकतंत्र स्थापित होगा। अंक के सभी लेख सामाजिक, साहित्यिक एवं धार्मिक सन्देश देने में पूर्णतः सफल हैं। आपके सफल सम्पादन की साफ झलक दिखाई देती है अतः बधाई स्वीकारें। ‘रवीन्द्र ज्योति’ के जुलाई-अगस्त, 2005 अंक में ‘चिन्तन-सृजन’ की चित्र सहित चर्चा की गई है। अंक 18 जुलाई को आपकी सेवा में भेजा जा चुका है आशा है मिल गया होगा। आपभी ‘रवीन्द्र ज्योति’ पर कृपया बहुमूल्य सुझावों सहित प्रतिक्रिया लिख कर भेजें और यदि संभव हो तो चर्चा कर अनुग्रहीत करें। - **डॉ. केवल कृष्ण ‘पाठक’, सम्पादक, रवीन्द्र ज्योति, जीन्द (हरियाणा)।**

‘चिन्तन-सृजन’ वर्ष 2, अंक 4। पत्र का व्यक्तित्व विशिष्ट है। आकर्षित-प्रभावित हुआ। - **डॉ. महेंद्र भटनागर, शोध-निदेशक (हिन्दी भाषा और साहित्य),**

## समीक्षार्थ पुस्तकें: प्राप्ति-स्वीकार

### पुस्तकें

**काव्य विमर्श**, यशदेव शल्य, प्रथम संस्करण: 2003, प्रकाशक: दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए राका प्रकाशन 40 ए, मोतीलाल नेहरू रोड इलाहाबाद-2, मूल्य: 250/- रुपए, पृष्ठ: 236.

**समसामयिक चिन्ताएँ**, यशदेव शल्य, प्रथम संस्करण: 2004, प्रकाशक: दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए राका प्रकाशन, 40 ए, मोतीलाल नेहरू रोड इलाहाबाद-2, मूल्य: 250/- रुपए, पृष्ठ: 240.

**धर्मसंकट**, मुकुन्द लाठ, प्रथम संस्करण: 2004, प्रकाशक: दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए राका प्रकाशन, 40ए, मोतीलाल नेहरू रोड इलाहाबाद-2, मूल्य: 200/- रुपए, पृष्ठ: 192.

### पत्रिकाएँ

**समन्वय** - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विशेषांक, सम्पादक: डॉ. सदानन्दप्रसाद गुप्त, प्रकाशक: अखिल भारतीय साहित्य परिषद्, गोरखपुर, अंक 10-11, मई 2005, मूल्य: पैंतालीस रुपये मात्र, पृष्ठ: 240।

**रवीन्द्र ज्योति**, राष्ट्रीय चेतना एवं जागृति का पारिवारिक, साहित्यिक एवं सामाजिक मासिक पत्र। प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी एवं सम्पादक, डॉ. केवल कृष्ण ‘पाठक’ द्वारा आचार्य प्रिंटिंग प्रेस रोहतक के लिए गंगापुत्रा प्रिंटरज, रेलपे रोड जीन्द से प्रकाशित।

**सामान्यजन संदेश**, संपादक, डॉ. ओमप्रकाश मिश्रा, सचिव, हरीश अड्यालकर द्वारा, अमलताश प्रिन्टिंग प्रेस, नर्मदाकुंज, गणेशपेठ, नागपुर में छपवाकर लोहिया अद्ययन केन्द्र, लोहिया भवन, सुभाष मार्ग नागपुर से प्रकाशित। मूल्य 15 रु. एवं वार्षिक 60रु. पृष्ठ-66, वर्ष 18, अंक 69. अप्रैल-जून 2005। अंतरंग।

**समता योग-समाचार**, वर्ष 5 अंक 6, जून-2005 सम्पादक: आचार्य मोती लाल पंडित, प्रकाशक एवं मुद्रक: सुभाष चंद्र कोच्छड़, बी-4/29, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063 द्वारा गोयल पैकर्स (प्रिन्टर्स) 212/1, गलीनं. 3 पद्म नगर, दिल्ली-7 से प्रकाशित। वार्षिक शुल्क: 100 रुपये। पेज-32।

## चिन्तन-सृजन एवं डॉयलॉग के विनिमय से प्राप्त पत्रिकाएं

**नया ज्ञानोदय**, भारतीय ज्ञानपीठ की मासिक साहित्यिक पत्रिका; अंक 30, 31; अगस्त, सितम्बर 2005; संपादक : प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रकाशक: अखिलेश जैन द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदीरोड, नई दिल्ली-110003; मुद्रक: नागरी प्रिंटर्स 1/11848, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032. मूल्य: एक अंक 20 रुपये। पृष्ठ: 144.

**प्रशासनिका**: ह. च. मा. राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान, जयपुर। सम्पादक: रमेश के. अरोड़ा। अर्द्ध-वार्षिक पत्रिका, वार्षिक सदस्यता शुक्ल: रु. 100/-, प्रकाशक: रमेश के. अरोड़ा द्वारा ह. च. मा. राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान, जयपुर।

**Political Economy Journal of India**, Vol. 14 Issues 1&2, January-June 2005, Editor: V.S. Mahajan, Printed and Published by V.S. Mahajan on behalf of Centre for Indian Development Studies, 206 Sector 9-C, Chandigarh and Printed at Deepak Offset Printers, Shahadra, Delhi. Annual Subscription for institutions/individual are Rs. 120/Rs.80/- respectively.

**Journal of Sukritindra Oriental Research Institute**, April 2005 Vol.6 No.2, Editor: Dr. V. Nithyanantha Bhat, Printed and Published by Dr. V. Nithyanantha Bhat, Sree Niketan, Jew Street, Ernakulam, Kochi-682 035, 126 pages. Price: Rs. 150/-

**FAULTLINES**, Writings on conflict & resolution, Edited by K.P.S. Gill & Ajai Sahni, Published by The Institute for Conflict Management, 11 Talkatora Road, New Delhi-110001.

**Journal of Indian Ocean Studies**, Editor, Vice Admiral Mihir Roy, Published by the Society for Indian Ocean Studies (Established 1987), Secular House 1, Aruna Asaf Ali Marg, New Delhi-110 067. Price: Rs. 75/-, 186 pages.

**RUSSIA AND THE MOSLEM WORD** Bulletin of Analytical Reference information, Russian Academy of Sciences Institute of Scientific information of Social Sciences, Moscow, Russia Institute of Oriental Studies, Director of Publication L.V. SKVORTOSOV, Editor Elena Dmitrieva

*With Best Compliments*  
from  
**VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.**

*Administrative Office*  
LG-69, World Trade Centre,  
Babar Lane, New Delhi-110001

*Regd. Office*  
**1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,**  
**New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848**



*We Strive  
to Satisfy  
Our Customers*

**VASUNDHARA MARKETING CO.**

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

*Regd. Office*

**1/3575, Netaji Subhash Marg  
Darya Ganj, New Delhi- 110002**

## **AIIMS AND OBJECTIVES OF ASTHA BHARTI**

The Aims and objects for which the society is established are as under:

- (i) To undertake, promote and provide for the study of India, its history, society and culture, keeping in view the indiacentric social, political and cultural continuum in its fullest geographical spread and time-depth;
- (ii) To work towards correcting/righting the distortions and colonial misinterpretations of India's past and present, its traditions, culture, social structure and social institutions, racial interpretations of society, colonial myths of exploitations and hegemony, etc.,
- (iii) To work against the negvativism and academic consumerism and cultural, academic and literary pollution;
- (iv) To promote positivist social activism;
- (v) To study the problems related to traditions and development, localism, regionalis, terrorism, parochi alism etc.;
- (vi) To organise seminars, symposia, study circles, workshops;
- (vii) To work for promoting harmony between the communities;
- (viii) To cooperate with institutions, bodies for purpose of furtherance of its objective;
- (ix) To undertake the publication of journals, research papers and books.
- (x) To establish and maintain libraries and information centres.

*With Best Compliments from:*

### **CAPITAL BUSINESS SYSTEMS LTD. (A unit of Khurana Group of Companies)**

30-B, Prehlad Market, Karol Bagh, New Delhi-110005  
Phone No. 011-25722617, 25732727, 25762034/35/36  
Fax. No. 011-25753975  
E-mail: cbsl@vsnl.com, Website: www.kbpl-india.com

One of the Largest Security Printers in India having following independent units.

**SECURITY PRINTING DIVISION**  
**CASH MANAGEMENT &  
CURRENCY HANDLING DIVISION**  
**PLASTIC DIVISION**  
**DATA CONVERSION & DIGITIZATION DIVISION**  
**RECORD MANAGEMENT DIVISION**

With Best Compliments

from

**VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.**

*Administrative Office*

LG-69, World Trade Centre,  
Babar Lane, New Delhi-110001

*Regd. Office*

1/3575, Netaji Subhah Marg, Darya Ganj,  
New Delhi-110002 ❖ Phone Off. 3277883, 3711848